जयसंधि

(मौलिक कहानियों का संग्रह)

लेखक

श्री जैनेन्द्रकुमार

श्री पूर्वोदय प्रकाशन

श्री पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली के लिए
नवयुग साहित्य-सदन, इन्दौर
द्वारा प्रकाशित।

प्रथम बार : १९४८

मूल्य
तीन रुपए

मुद्रक
पी० बी० आई० प्रेस
पहाड़गंज, दिल्ली।

सूची

दो शब्द

प्रस्तुत संग्रह श्री पूर्वोदय प्रकाशन की दूसरी पुस्तक है। पहली किताब 'जवानो !' में महात्मा भगवानदीन के इक्कीस कर्तव्य-प्रेरक और स्फूर्तिदायक निबंध संग्रहीत हैं। वह पुस्तक हाल ही में प्रकाशित हुई है और हमें हर्ष है कि उसका अच्छा स्वागत हुआ है।

'जयसंधि' के बारे में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। उसकी कहानियों के प्रणेता उन सिद्धहस्त कलाकारों में से हैं, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि में अनुपम योगदान दिया है। उनकी कहानियों, उपन्यासों और निबंधों में एक नवीन शैली और एक नवीन विचार-धारा प्रवाहित है। उनके सोचने और लिखने का ढंग अपना निराला है। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में पाठक को नवीनता के साथ-साथ ऐसी विचारोत्तेजक सामग्री भी मिलती है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। मानव के अन्तर को समझने और उसकी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने में तो लेखक को कमाल हासिल है।

संग्रह की कहानियाँ समाज के भावी रूप की ओर भी इंगित करती हैं। इस दृष्टि से वे और भी पठनीय एवं मननीय हैं।

हमें विश्वास है कि पाठकों को इन कहानियों में पर्याप्त विचार-सामग्री मिलेगी और वे चाव से पुस्तक को अपनावेंगे।

—प्रकाशक

: १ :

जय-संधि

सामन्त यशोविजय अपने दृढ़ भुज-बल और दृढ़तर आत्म-विश्वास से काम लेकर मंडलेश्वर बन गए। किन्तु उन्हें प्रतीत हुआ कि उन पर इससे आगे भी दायित्व है। आस-पास के राज्यों में स्पर्धा है, विग्रह है, ईर्ष्या है। छुट-पुट युद्ध होते ही रहते हैं। अन्तर्राजकीय कोई अनुशासन नहीं। सब मनमानी करते हैं और ज़बर्दस्त कमज़ोर पर चढ़ बैठता है।

यशोविजय को स्पष्ट कर्त्तव्य दीखने लगा कि ऐसी केन्द्रीय शक्ति को उदय में लाना और प्रतिष्ठित करना होगा, जो इन सब राजाओं के दर्प को भंग करे और उनमें एकसूत्रता लाये। केन्द्रीय सत्ता के स्थापन करने के काम के लिए अब कौन आगे आयगा ? सीधी नीति और धर्म की बातों से ये राजा लोग मानने वाले नहीं हैं। शास्त्र का तर्क ही वे जानते हैं। मैंने आरम्भ में कहा कि अपने महाराष्ट्र में हमें अखंडता लानी है। अच्छा है कि हम सब छत्रधारी आपस में मिलकर उपाय सोचें। पर क्या किसी ने सुना ? मैंने पुस्तक लिखी, प्रचार किया, पार्टी बनाई। अंत तक उनकी कोशिश रही कि न मुझे गिनें, न मेरी सुनें। आख़िर शास्त्र की ही दलील उनके कानों उतरी और मुझे राजा बनना पड़ा। अब भी शक्ति की ही ये सुनेंगे और मुझे ही वह काम करना होगा।

यशोविजय की निष्पुत्रा पत्नी बसन्ततिलका ने कहा, "सुनो जी, तुम क्या जयवीर पर चढ़ाई करने की सोच रहे हो ? तुम्हें अब क्या कमी है ? फिर उत्पात किसलिए ?"

यशोविजय ने कहा, "बसन्त, यह न समझो कि मैं तुम्हें नहीं देखता हूं। रूप के लिए मेरे पास आंखें हैं। पर इतिहास हमसे ही न बनेगा तो वह और किसको लेकर बनेगा ? बसन्त, पति और पिता बनकर रहने वाले तो असंख्य हैं, कोई इतिहास का बनकर रहने को भी तय्यार होगा ? बसन्त, ऐसे आदमी को युद्ध से विरत करोगी तो फिर उसके लिए रह क्या जायगा ? संघर्ष में से विकास आता है। अपने इस महाराष्ट्र को एक संगठित पुंजीभूत शक्ति के रूप में विश्व के समक्ष हमें खड़ा करना है। उसमें अनेकों को और उनकी अनेकता को बीच में टूटकर गिरना हो तो क्या तुम बीच में आकर मुझे उन पर दया दिलाओगी ? यशोविजय को तुम ग़लत समझी हो बसन्त, अगर तुम ऐसा समझती हो।"

बसन्ततिलका ने कहा, "लेकिन जयवीर और यशस्तिलका की सहायता से ही आज तुम राजा हो, यह क्या तुम्हें याद नहीं है ?"

यशोविजय—भाग्य में सब काम आते हैं बसन्त, लेकिन भाग्य पर किसी स्मृति का बोझ नहीं होता है। भाग्य असंपृक्त है और वह अमोघ भी है। मैं जयवीर के साथ अपने नाते की ओर देखूं, या यह देखूं कि वह हमारे राष्ट्र की एकता में बाधा है। वही एक व्यक्ति है जो महाराष्ट्र-संघ में नहीं आना चाहता और जिसके कारण कुछ और लोग भी छिटके हुए हैं।

बसन्त बोली, "लेकिन बहन यशस्तिलका।"

यशोविजय सुनकर मुस्कारायें। कहा, "उसकी अवस्था बीती नहीं है। फिर विवाह हो सकता है।"

बसन्त—(चौंककर) तुम उसे विधवा करोगे ?

यशोविजय—(भृकुटी वक्र करके) मैं कुछ नहीं करूंगा, पर जो होगा मैं वह क्या जानता हूं? तुम स्त्रियों की विवाह से आगे गति नहीं। यशस्तिलका, तुम जानती हो कि वह क्या चाहती है ? पति को कोई स्त्री नहीं चाहती।

बसन्त—(व्यंग से) न स्त्री को कोई पुरुष चाहता है, क्यों ?

यशोविजय—पुरुष का यह काम नहीं है। स्त्री पीछे चली आने को है। चाह का खर्च स्त्री पर कापुरुष ही करते हैं।"

बसन्त—मैं समझी, तुम यशस्तिलका को विधवा बनाओगे। कहो, अपना बदला लोगे। यही न?

यशोविजय—हां, शायद। लेकिन उसके प्रेम के कारण यशस्तिलका ने जयवीर को नहीं वरा है, मेरे प्रेम के कारण उसने ऐसा किया है। यह मेरा कर्त्तव्य है कि मैं उसके प्रेम को मुक्ति दूं।

बसन्त—और ऐसे मुझको भी मुक्ति दो!—क्यों?

यशोविजय—बसंत, तुम भूलती हो, मैं इन चीजों के लिए नहीं बना हूं। यशस्तिलका मुझे चाह सकी, पर स्वीकार नहीं कर सकी। वह समाज जहां व्यक्ति का कुल इतना प्रधान है कि प्रेम को व्यर्थ करता है, वह समाज जीर्ण है। यशस्तिलका के विवाह के क्षण से मैंने यह देख लिया। तब मैंने तय किया कि समाज की ऊंच-नीचता को एक बार चीरकर मुझे राजा बनना होगा। जाति और कुल की बेड़ियों की जकड़ को खंड-खंड कर डालना होगा। उसी क्षण तय किया कि यशस्तिलका की बहन—तुमसे मुझे विवाह करना होगा। चौंको नहीं, यह नहीं कि तुम अपूर्व सुन्दरी नहीं हो, पर विवाह से मैंने यह बतलाना चाहा कि समाज की मान-मर्यादाएं झूठी हैं, कृत्रिम हैं। मैं अकेला हूं। विवाह न मुझे यशस्तिलका से चाहिए था, न तुम्हारे विवाह का मेरे निकट उपयोग है। पर समाज की विषमताओं को बीच में से टूटना होगा। हमने क्या यह जंजाल फैला रखा है? इसी को लेकर बड़े उठते और छोटे गिरते जा रहे हैं। वे ऐश करते हैं, ये तरसते हैं। मेरे पास जीने के लिए काफी काम है। समाज के स्तरों को बीच से चीरते हुए मुझे वहां उठते जाना है, जहां कोई स्तर शेष नहीं है। तब लोग देखेंगे कि जिसको अनादि और अटूट माना था, वह वर्ण-भेद बिखरा पड़ा है। वह सब प्रपञ्च था और मनुष्य उसके पार है। बसन्त, तुम चाहती हो कि मैं जयवीर का उपकार मानूं और अपने काम में यहीं रुक जाऊं? चाहती हो कि मैं मैं न रहूं?

बसन्त—नहीं, जयवीर पर चढ़ाई न करो!

यशोविजय—कौन जयवीर? जयवीर को मैं क्या जानता हूं? मैं

उस आदमी को बर्दाश्त नहीं कर सकता जो इस महाद्वीप की एकता में विच्छेद डालता है। उसका नाम जयवीर है तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं। तुम अपनी बहन से कहो कि वह तुम्हारे बहनोई को साथ लेकर सदा के लिए तुम्हारे साथ आ रहे। तब देखोगी कि उनके सत्कार में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होती है। पर राज-कारण बहन-बहनोई को नहीं जानता।

बसन्ततिलका ने कहा,"पर जयवीर कम शक्तिवान तो नहीं है। युद्ध में भीषण रक्त-पात होगा। जय क्या निश्चित है? फिर जयवीर को मैं नहीं खो सकती तो तुम्हें ही खोने को मैं कब तय्यार हूं?"

यशोविजय सुनकर हंसे और बोले, "मैं तुम्हारे किस काम का सिद्ध हुआ हूं कि मुझे रखने का तुम्हें लोभ होना चाहिए?"

बसन्ततिलका ने ज़ोर से रोककर कहा, "बस चुप करो।"

यशोविजय ने गम्भीर होकर कहा, "लेकिन मैं नहीं खोया जाऊंगा, बसन्त! जो काम मुझमें रखकर यहां मुझे भेजा गया है, वह हो न जायगा तब तक भगवान् मुझे भला कैसे उठा सकेंगे!"

बसन्त—तो तुम चढ़ाई ही करोगे? और उपाय नहीं है?

यशोविजय—नहीं, मैंने दूत भेजे हैं। चाहो तो उसी हैसियत से तुम हो आओ। मैं युद्ध नहीं चाहता, बचना चाहता हूं। पर यह जयवीर के हाथ है। महाराष्ट्र-संघ में अपना उचित प्रतिनिधित्व लेकर जयवीर संतुष्ट नहीं हो सके तो फिर मेरा अपराध क्या? हमारी यह भूमि कब तक फूट का आंगन बनी रहेगी! आखिर कभी तो विधान आयगा! विधान का मसविदा जयवीर को भेज दिया गया है। तीस में से इक्कीस राजाओं ने उसको मान लिया है। शेष बस यह है कि सब मिल-बैठकर अपना अधिनायक चुन लें। यह किया-कराया काम इसलिए चौपट होने दिया जाय कि जयवीर राजी नहीं है और वह नातेदार है? जाओ, जाकर उसे कहो कि इक्कीस राज्यों की ओर से यशोविजय इस दिशा में कदम बढ़ाकर अब पीछे हटने वाला नहीं है। कहना, पन्द्रह रोज़ का अवकाश है। मैं व्यक्ति नहीं हूं, स्वतन्त्र नहीं हूं। मैं प्रतिनिधि हूं और विधानाधीन हूं। समय रहते

अब हो जाना चाहिए। नहीं तो कहना कि भाग्य दुर्निवार ही है।

बसन्त—हां, मैं जयवीर के पास जाऊंगी। लेकिन—

यशोविजय—अवकाश के पन्द्रह दिन से अधिक नहीं हैं।

बसन्त—लेकिन मैं वापिस न आऊं तो ?

यशोविजय—(भ्रुकुटी समेटकर) "अवकाश पन्द्रह दिन का है। आगे तुम जानो।

बसन्त—तुम्हें निश्चय है कि ईश्वर तुम्हारी ओर है ?

यशोविजय—ईश्वर किसी की ओर नहीं होता, बसन्त ! निस्वार्थ की ओर होता है। मैं निश्शंक हूं।

बसन्त—तुम राज्य बना रहे हो, राज्य को अब साम्राज्य बना रहे हो। पर किसके लिए ? तुम्हारे तो कोई पुत्र भी नहीं है ?

यशोविजय—ठीक कहती हो, बसन्त ! राज्य या साम्राज्य बना रहा होता तो कोई उसके लिए होना चाहिए था। पर कोई नहीं है। तुम जानती हो कि तुम तक नहीं हो। तब यही न है कि मुझे न राज्य बनाना है, न साम्राज्य बनाना है। मुझे यहां आकर भगवदादेश पालना है।

आंखों में आंसू लाकर बसन्ततिलका ने कहा, "तुम्हें किसी का भय नहीं है, स्वामी ?"

यशोविजय ने आश्चर्य से पूछा, "भय ! भय किसका ?"

बसन्त बोली, "पराजय का, मृत्यु का, भाग्य का, ईश्वर का ?—किसी का भय नहीं ?"

यशोविजय ने हंसकर कहा, "जाओ बसन्त, जयवीर के पास जाओ। कहना मुझे भय नहीं है। इससे लज्जा और लिहाज़ भी नहीं है।"

बसन्त ने कहा, "एक बात मेरी सुनोगे ? तुम निस्पृह हो, इससे कह रही हूं। जयवीर में उतनी क्षमता नहीं है। तुम उसकी अधीनता स्वीकार कर लो तो क्या हर्ज है ? तुम समर्थ हो !"

यशोविजय—कोई हानि नहीं, बसन्त। पर जयवीर में इतना भी तो साहस नहीं कि यही बात खुलकर कह सके। यह तो मैं सोचता ही था कि

उसको केन्द्र बनाकर सबको एक विधान की अधीनता में गूंथ लूंगा; पर अधिनायक केवल नाम का हो तो उससे कूट-चक्र की सृष्टि होगी ? तब वहां सड़ांध हो जायगी। मेरी यही तो कठिनाई है, बसन्त ! जयवीर न मुझे मानेगा, न मुझे अपनी अधीनता में लेगा। मैं सत्ता नहीं चाहता; पर एकता तो चाहता हूं। मुझे कोई दूसरा आदमी नहीं दीखता। सब अपने-अपने चक्र में, अपने-अपने राज-हित की भाषा में सोचते हैं। महाराष्ट्र उनके बल पर कैसे बनेगा, तुम्हीं सोचो। मुझे क्षमा करना ! तुम्हारी कविताओं की स्तुति मैंने मुंह से नहीं, हृदय से की थी। हत्या नहीं, मुझे प्रेम ही प्रिय है। पर प्रेम तो दुःख है। दुःख में से सृष्टि होती है, बसन्त ! एक समूचे महाराष्ट्र को जन्म लेना है। उसकी पीड़ा कम नहीं होगी। पर उसको सह जाना होगा। जयवीर और मैं काफ़ी साथ रहे हैं। महाराष्ट्र की एकता में निष्ठा उसे दुर्लभ है। मैं बताओ तब क्या कहूं ? अधिक नहीं इतना तो वह करे कि नव-सर्जन के इस संक्रान्ति-काल में वह चुप ही बैठे। मेरे व्रत में बाधा तो न बने। बसन्त, तुम मानती हो कि राजा होकर यशोविजय कुछ और हो रहा है ? इनकार न करो। तुम्हारे चेहरे पर यह लिखा है। पर यह बात नहीं है। मैं वही हूं, जिसने तुम्हारा चित्त जीता और जिसको तुमने अपने हृदय का समस्त काव्य दिया; लेकिन बसन्त, समय विषम है और मैं भी स्वाधीन नहीं हूं। जाने भाग्य की किस शृङ्खला से बंधा हुआ हूं। आवर्तों में से मेरी गति है। और जीतकर भी किसी का हृदय लेने की मुझे स्वतन्त्रता नहीं है। ऐसे व्यक्ति को दोष दे सकती हो, लेकिन क्या उस पर दया भी नहीं कर सकती हो, बसन्त ? यशस्तिलका —मैंने झूठ नहीं कहा बसंत, कि जयवीर के न रहने पर उसे लौकिक क्षति कितनी भी हो, अभ्यंतर में दोनों अपरिचित हैं, लेकिन तुम्हारे द्वेष की भी वह बात नहीं है।

बसन्त—सच बताओ, क्या यह सच है कि यशस्तिलका अपने पति को युद्ध के लिए उभार रही है ?

यशोविजय—सुनता तो हूं, पर जासूस मन तक तो नहीं पहुंच सकते।

बसन्त—तब क्या बहन यही न समझेगी कि मैं तुम्हारे पक्ष में जय-वीर को झुकाने आई हूं ?

यशोविजय—मेरे पक्ष में ? भविष्य के पक्ष में कहो, बसन्त, तो इसमें अन्यथा क्या है ?

बसन्त—बहन क्या चाहती है ? हममें से किसी का घर बर्बाद देखना चाहती है ?

यशोविजय—(गम्भीर भाव से) हां, शायद अपना ही घर बर्बाद देखना चाहती है ।

  

बसन्ततिलका अपने पति की गंभीरता देखकर घबरा गई । उसने निश्चय किया कि युद्ध को टालना होगा । वह जयवीर के पास गई । कहा, "मैं संधि का प्रस्ताव लेकर आई हूं । तुम दोनों मिल जाओ तो क्या अजेय न हो जाओ ? आख़िर रक्त-पात क्यों ?"

जयवीर—बसन्त, यशोविजय अपने को बहुत गिनता है । मैं क्या कर सकता हूं ? कायर तो नहीं बन सकता !

बसन्त—पर मित्र तो बन सकते हो । मैं उसकी भीख मांगने आई हूं ।

जयवीर—क्या वह मित्र चाहता है ? वह तो मातहत चाहता है । नया राजा बना है न, प्यादे से फ़रजी हुआ है तो टेढ़ा क्यों नहीं चलेगा ?

बसन्त—जयवीर, यह कहना तुम्हारे योग्य नहीं है । अपने बल से उन्होंने राज बनाया है ? मिले से बनाया राज बढ़कर है । अपने मन में से उनके लिए दुर्भाव निकाल दो, जयवीर ! मैं कहती हूं, तुम लोग मित्र हो जाओ ।

जयवीर ने हंसकर कहा, "उसके दूत यहां आये बैठे हैं । सिर पर तलवार लटकाकर यशोविजय संधि के लिए कहलाता है । यह क्या मित्रता की मांग है ? यह—तो हुक्म है, अधीनों को दिया जाता है । मैं तो चाहता था कि हममें मेल रहे । क्या मैंने उसे सहायता नहीं दी ? लेकिन राज पाकर उसे मद हो गया है ।"

बसन्त ने आग्रह से कहा, "मद नहीं, जयवीर ! उनको ग़लत न समझो। उन्हें तुमसे द्वेष नहीं। उन्होंने मुझे इसीलिए भेजा है। एक बात तुम मान लो कि तुम महाराष्ट्र-संघ में हो जाओगे। आगे उन्हें कुछ नहीं चाहिए। संघ में अपना प्रतिनिधित्व तुम बढ़वा सकते हो।"

जयवीर उत्तर में कुछ कहे कि यशस्तिलका वहां आ पहुंची। आते ही बोली, "महाराष्ट्र-संघ ! वह यशोविजय का ढकोसला है। यह उसमें शामिल होंगे तो मैं इनके साथ न रहूंगी। वह उद्दण्ड, अपने चक्र में सबको फांसना चाहता है।"

बसन्त—बहन, क्या कह रही हो ?

जयवीर—संघ का विचार बुरा नहीं है। पर यशोविजय पर विश्वास के लिए प्रमाण चाहिए।

बसन्ततिलका ने कहा, "प्रमाण में आप क्या चाहते हैं ?"

जयवीर ने कहा, "यह राजनीति का प्रश्न है, बसन्त ! इस बारे में मैं तुमसे किस अधिकार से बात करूं ? क्या यशोविजय मैं कहूं वैसे चलेगा ?"

बसन्त—वह संघ चाहते हैं, संघ को शक्तिमान चाहते हैं। इसके अतिरिक्त वह कुछ भी मान सकते हैं। मैं मना सकती हूं। मुझे बताओ—कैसे तुम्हें विश्वास हो सकता है और तुम संघ में आ सकते हो।

जयवीर—तो सुनो बसन्त। संघ में यशोविजय न जाय, न अधिनायक पद के लिए खड़ा हो।

इस समय यशस्तिलका, जो चुप थी, हठात् बोल उठी, "यह कैसे हो सकता है ? यशोविजय के बिना संघ व्यर्थ है और अधिनायक बने बिना यशोविजय व्यर्थ है। क्यों जी, वह तुम्हारी शर्त्तें मान भी जायं तो तुम भी मान जाओगे ?"

जयवीर ने अपनी पत्नी की ओर देखकर कहा, "इसमें क्या हर्ज है ? यशोविजय अलग रहे तो संघ का अधिनायक मैं हो सकता हूं।"

यशस्तिलका—तुम ? तुम अधिनायक ?

कहकर वह एकदम हंस पड़ी। बोली, "वह होने देगा?"

बसन्त—मैं वचन देती हूं बहन, कि संघ का बहुमत यह चाहेगा तो वह बीच में नहीं आयंगे।

यशस्तिलका फिर जोर से हंस पड़ी। बोली, "संघ का बहुमत! बसन्त, तू विनोद तो नहीं कर रही है? न कहीं संघ है, न बहुमत है। एक तुम्हारे स्वामी हैं और उनकी यह माया है। उसके लिए तुम यह जाल डालने क्यों आई हो? तुम्हारी बहन अंधी नहीं है।"

बसन्ततिलका घबराई हुई बोली, "यह क्या कहती हो, बहन?"

यश गम्भीर भाव से बोली, "तू जा बसन्त। कह देना कि सब बात वृथा है। संधि के लिए कोई दूत न भेजें। नातेदारों में संधि नहीं हुआ करती। वह युद्ध चाहते हैं। कहना, जो वह चाहते हैं, होगा।"

बसन्त ने कातर होकर कहा, "पर वह युद्ध नहीं चाहते हैं, बहन! तुम क्या उन्हें भूल गई हो? फिर युद्ध उनके सिर क्यों डाल रही हो? मुझे विश्वास है कि संघ उनके बिना चल सकेगा तो मैं उन्हें राज़ी कर लूंगी कि वह अलग रहें। फिर जयवीर अधिनायक बनें, इसमें क्या बहन, तुम्हें खुशी नहीं होगी?"

यश बोली, "व्यर्थ बात न कर, बसन्त! तू जानती है कि उनके बिना कुछ न होगा। इससे वह अलग भी न रहेंगे। खैर, इन बातों से होता क्या है? उनसे कह देना कि यश वही है, जिसके रक्त में राजत्व है। कल का जो बना हुआ राजा है, उसकी ओर का कोई संधि-प्रस्ताव वह नहीं सुन सकती।"

जयवीर ने कहा, "यश, यशोविजय बीच से हट जायं तो संघ-स्थापना का विचार अच्छा ही है। (बसन्त से) लिखित वचन तुम उससे दिला सकोगी?"

बसन्त—हां, शायद दिला सकूंगी।

जयवीर—(यश से) तो इसमें क्या हर्ज है, यश! लड़ाई में बर्बादी है और अनिश्चित विजय है।

यश ज़ोर से बोली, "तो क्यों नहीं कहते कि तुम कायर हो और युद्ध से बचते हो ?"

जयवीर—हां, युद्ध से बचता हूं। कारण, एक तो उससे बचना ही चाहिए, दूसरे तुम-सी सुन्दरी का सौभाग्य अखण्ड रहना चाहिए।

यश इस पर चिढ़कर बोली, "मेरा सौभाग्य तो तभी गया जब कायरता की बात तुम्हारे मन में आई। मेरा सौन्दर्य यश है। कापुरुषता दिखाकर मेरा अपयश कराना चाहते हो ?—(बसन्त से) सुनो जी, कह दो कि अगर उसकी बात में सच हो तो आगे कोई दूत न आये। और अब तुम्हारे बहनोई को वह युद्ध-क्षेत्र में ही आकर मिले।"

बसन्त स्तम्भित होकर बोली, "बहन !"

जयवीर भी आगे कुछ न कह सका।

यश ने कहा, "बसन्त, अब इन्हें छोड़ दो। यहां आओ।"

अलग जाकर दोनों बहनों में बात हुई। बसन्त बहन के लिए यशोविजय का एक मोहरबंद पत्र लाई थी। पत्र पढ़कर यश पीली पड़ आई। बोली, "नहीं, वह यहां न आयं। यहां बहुत खतरा है। उन्हें यह क्या सूझा जो यहां आना चाहते हैं ?"

बसन्त—उन्होंने कहा था, कि यदि कुछ और सम्भव न हो तो मैं यह पत्र तुम्हें दे दूं। बहन ! हम दोनों अनिष्ट को टाल नहीं सकतीं ?

यश कुछ देर तक निरुत्तर खड़ी रही। अनन्तर खोई-सी बोली, "वह आयंगे ? नहीं, वह नहीं आयंगे।"

बसन्त—उन्हें एक भी अवसर न दोगी ? बहन, वह तुम्हें अब भी चाहते हैं।

यश—मुझे चाहते हैं ! पागल तो नहीं हुई हो ?

बसन्त—और बहन मुझे नहीं चाहते !

झट से यश बोली, "बसन्त, तुम्हारा दिमाग ख़राब है।"

बसन्त—तो जाने दो, बहन ! यह कहो, क्या किसी तरह वह तुम्हें नहीं मिल सकेंगे ?

"नहीं बहन, नहीं। यहां उनकी खैर नहीं है। कह देना कि ऐसा न सोचें और बहन, हम लोग कुछ नहीं कर सकतीं। अपने विवाह तक पर तो हमारा वश नहीं है। आगे हम क्या कर सकती हैं ? युद्ध होगा तो हो। जाओ बहन, कह देना कि किसी को किसी पर दया करने की ज़रूरत नहीं है।"

बसन्त सब तरह की कोशिश करके हार गई। और लौटकर सब हाल पति को कह सुनाया।

सुनकर यशोविजय कुछ विचारते रह गए। फिर कहा, "बसन्त, यश पागल हो गई है। मैं उससे मिलने जाऊंगा।"

बसन्त—पर उसने मना किया है। और तुम्हारा लौटकर आना कठिन है।

यशोविजय हंस पड़े। बोले, "कठिन मैं नहीं जानता, बसन्त ! यह जानता हूं कि समय से पहले मेरा मरना असम्भव है और उधर यश एकदम बौरा गई है। तुम्हीं कहो, मैं रुक सकता हूं ?"

और यशोविजय नहीं रुके।

  

यशस्तिलका बहुत घबरा गई। जब परिचारिका के हाथ उसने पत्र पाया कि यशोविजय से आधी रात के समय वह स्वयं बाहर कुंज में आकर न मिली तो वह शयन-कक्ष में जायंगे।

यह सूचना पाकर वह किसी तरह कुछ भी अपने लिए निश्चय न कर सकी। जाने का समय हुआ कि कुंज में भी न जा सकी। वह जाग रही थी और जाना चाहती थी पर पांव जैसे बंध गए हों। वह उस समय पलंग पर उठकर बैठी थी, पर उतर कर चलना उसके लिए संभव नहीं हुआ। ऐसे बैठी रहकर अन्त में सब बत्तियां बुझाकर वह फिर लेट गई।

यशोविजय ठीक समय पर कक्ष में आ उपस्थित हुए। बत्ती बढ़ाकर देखा कि यश पलंग पर आंखें मूंदे लेटी है। सीधे सिरहाने बैठकर यशोविजय ने हाथ पकड़कर कहा "यश, उठो, तुम सो नहीं रही हो।"

वह घबराई-सी उठी। चौंककर बोली, "कौन ?"

यशोविजय ने हंसकर कहा, "मैं हूं यशोविजय। उधर का दरवाज़ा बन्द तो है ? इधर का मैं बन्द कर चुका हूं !"

जैसे हैरत में हो, यश ने कहा, "तुम ऐसे समय क्या चाहते हो ?"

यशोविजय—मैं बात करना चाहता हूं, यश, और यह जानना चाहता हूं कि हमारी बात कोई सुनेगा तो नहीं ?

यश—तुम कैसे आये ? क्यों आये ? किसकी इजाजत से आये ?

यशोविजय ने हंसकर कहा, "वह सब देखा जायगा, यश ! मुझे जल्दी जाना है। मेरी बात सुनो। यह बताओ कि तुम मुझसे अभी तक नाराज हो ?"

कहते-कहते यशोविजय ने हाथ से सम्हालकर उसे तकियों के सहारे बैठा दिया।

यश ने कहा, "मुझसे तुम्हें क्या काम ? मुझे तुमसे कोई काम नहीं।"

यशोविजय ने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, "नहीं यश, यह सच बात नहीं है। दोनों को दोनों से काम है। सबको सबसे काम हुआ करता है। तुम मुझसे क्या चाहती हो ? तुम जानती हो कि तुम्हारी वजह से मैं राजा बना। मैं तो अपने ढंग का कवि था। तुमने कहा कि राजा बनूंगा तब तुम बोलोगी। अब देखो, राजा हूं। अब बोलने से इनकार नहीं कर सकतीं।"

"मुझे इससे क्या ? राजा से महाराजा बनो तो इसमें मुझसे क्या कहने आते हो ?"

यशोविजय और पास सरक आये। यश की ठोड़ी में हाथ डालकर कहा, "सुनो, यश, जयवीर से वैर न करो। इतना नहीं कर सकोगी, रानी ?"

हाथ को झटके से अलग करके यश बोली, "क्या बकते हो ?"

यशोविजय ने कहा, "मेरे दोष के लिए जयवीर को दण्ड न दो रानी। वह तुम्हारे बच्चों के पिता हैं।"

यश बेहद क्रुद्ध होकर बोली, "हट जाओ, मेरी आंखों के सामने से। तुम हो, कौन जो यों सताने आये हो?"

यह उत्तर पाकर यशोविजय उस कमरे में ही कदम रखकर घूमने लगे। यश सामने बैठी निर्निमेष देखती रही। धीरे-धीरे उसकी आंखें भर आईं और उनमें से आंसू बह चले।

यशोविजय घूम रहे थे। वह अपने विचार में लीन थे। सहसा अपने ही हाथ झटककर बोले, "मुझे समय कम है।"

कहने के साथ ठिठककर वह यश की ओर मुड़ने को हुए। उस समय तक काफी आंसू यश की आंखों से व्यर्थ भाव से बहकर सूख गए थे; पर आंखें स्थिर थीं और आंसुओं की रेखा साफ चीन्ह पड़ती थी। यशोविजय ने एकाएक आगे बढ़कर उसे गोद में लेते हुए कहा, "यह क्या! तुम रो रही थीं?—भला क्यों?"

यश गोद में गिरकर फूट-फूटकर और भी रोने लगी। बोली नहीं।

यह अप्रत्याशित था। यशोविजय ने कहा, "क्यों-क्यों, क्या बात है?"

यश रोती ही रही। कुछ नहीं बोली। और थोड़ी देर बाद वह चुप होकर उठी तो बोली, "तुम जाओ, यशोविजय, यहां न रहो।"

यशोविजय ने कहा, "लेकिन मुझे बताओ, मैं क्या करूं? लड़ना नहीं चाहता हूं। राजा होना, अधिनायक होना, कुछ नहीं चाहता हूं। पर राष्ट्र-संघ का स्वप्न मेरा पुराना है। तुम तो सब जानती हो। उसी के बल पर कवि था तो तब रहता था, राजा हूं तो अब रहता हूं। वह गया तो मैं किसके लिए रह जाऊंगा! तुम उस वक्त मेरी हंसी उड़ाती थीं और मुझे पागल कहती थीं। अब भी हंसी उड़ा सकती हो और पागल कह सकती हो। लेकिन मैं क्या तब तुमसे नाराज हो सका था कि अब नाराज होऊं? यश, तुम्हें मुझमें विश्वास नहीं?"

यश ज़ोर से बोली, "क्या विश्वास नहीं? चुप रहो।"

यशोविजय कहता रहा, "हम आपस में लड़ते-झगड़ते रहे हैं। एक देश दूसरे का दुश्मन है। छीना-झपटी और मार-काट मचती रही है।

इसका अन्त कब होगा ? यह शर्म की बात है, यश, कि हम लड़ें और अपनी-अपनी सोचें। मैं आगे बढ़कर जान देने को तय्यार हूं, अगर उससे सब मिल सकें। संघ बनकर मुझे एक तरफ कर सकता है; किंतु यह लज्जा-जनक दृश्य तो हमारे महाराष्ट्र की भूमि पर से मिट जाना चाहिए। यहां अनेक राज्य हैं और सब एक-दूसरे की घात में हैं। छल और कपट से राज-नीति छा गई है। कूट-चक्र का जाल फैला है, आदमी सरल नहीं रह गया है, कुटिलता सीखता जाता है। यश, मैं वही स्थिति लाना चाहता हूं, जहां दबाव न होगा और व्यक्ति प्रकृत भाव से रहेंगे। प्रकृत भाव मित्र भाव है। वह आपा-धापी नहीं है। वह सहयोग और सहकार है। यश, तुम इस काम में मेरी सहायता नहीं कर सकती हो ?"

यश ने मुसकराकर कहा, "यशोविजय, तुम वही पहले-से पागल हो। मैं समझती थी, राजा हो गए हो; पर कुछ नहीं, तुम अब भी बोलने लायक नहीं हो।"

यशोविजय ने यश के इस निर्बंध भाव पर प्रसन्न होकर कहा, "हां, यश ! मैं वही हूं। पागल हूं; लेकिन पागल जानकर ही तुम मेरी मदद करती रहो। अब क्या उससे विमुख होगी ?"

उस समय यशस्तिलका ने गंभीर भाव से कहा, "सुनो, यशोविजय, तुम पागल होकर समझदारी की बात न करो। पागल को कोई पहचान नहीं होती। उसके लिए जैसा युद्ध, वैसी शान्ति। जैसा एक, वैसा दूसरा।"

कहते-कहते वह रुकी और उसकी आंखें भर आईं। फिर आगे कह निकली, "जैसी यश, वैसी बसन्त। जैसा अपना, वैसा पराया। फिर पागल होकर यह क्या मोह में पड़े हो कि युद्ध रोकने को मुझसे मिलने आये हो ? पागल तो कभी नहीं घबराता !"

यशोविजय ने कहा, "घबराता नहीं हूं, यश ! पर यह युद्ध अनिवार्य नहीं है, प्रकृत नहीं है। जयवीर शत्रु नहीं है। यश, तुम जानती हो, वह लड़ाई सच्ची होगी और तुम्हारे मन की गांठ को और कस देगी। यश, गांठ को खोल क्यों नहीं देतीं ? उसे कसती ही क्यों जाती हो ?"

यश ने स्पष्ट भाव से कहा, "यशोविजय, अपनी मर्यादा का तुम्हें ध्यान रखना चाहिए। युद्ध नहीं टलेगा। बाधाएं कम करके फल का मूल्य घटाओगे। यह नहीं होगा यशोविजय। युद्ध में से तुम्हें गुजरना होगा!"

यशोविजय ने भी असंयत होकर कहा, "और जयवीर को तुम्हारे लिए बलि होना होगा! नहीं, यह नहीं होगा। यह बराबर उन्हीं का शयन-गृह है न?"

कहकर यशोविजय उस ओर का द्वार खोलने को आगे बढ़े।

यश भयभीत हो पड़ी। बोली, "हें-हें, उधर कहां जाते हो?"

द्वार पर पहुंचकर खोलने की चेष्टा करते हुए यशोविजय ने कहा, "जयवीर को जगाकर कहूंगा, यह मैं हूं। तुम्हारे शयन-कक्ष से आ रहा हूं।"

यश ने कुछ नहीं सुना। भागती हुई आकर उसने यशोविजय की बांह पकड़ ली। कहा, "अपने पर दया करो, यशोविजय, क्या तुम्हें पता है कि तुम कहां हो? अब भी तुम मृत्यु के मुंह में हो। यह लो, मेरी बात सुनो।"

यशोविजय को पकड़कर वह लौटा लाई, पर यशोविजय की मुद्रा अब भी कठिन थी। उसने कहा, "सुनो यश, हिंसा से मुझे डर नहीं है। लेकिन जयवीर का बलिदान तुम न दे पाओगी। मेरे हाथों तुम यह नहीं करा सकतीं। मैं जान चुका हूं कि वह संघ से विमुख नहीं, तुम्हीं उसे भड़का रही हो।"

यश क्रोध से बोली, "हमारे बीच में पड़ने वाले तुम कौन हो?"

उसी भाव से यशोविजय ने कहा, "तुमको बलि चाहिए तो मैं हूं। मैं अभी जाकर जयवीर के हाथों अपने को पकड़वा दूंगा। तब तुम्हें शान्ति होगी!"

यश—मुझे शान्ति? तुम्हें हो क्या गया है?

यशोविजय—यश, पति निकृष्ट नहीं होता वह देवता होता है। उसी से स्त्री का सौभाग्य है। जयवीर क्या इसलिए अविचारणीय है कि वह पूरी तरह तुम पर विश्वास रखता है? इसलिए उसे मुझसे टक्कर लेकर खंड-खंड होना होगा कि—? तुम चाहती क्या हो?

यश—हां, तुम्हारे लिए यह सब मुझे करना होगा।

यशोविजय—यश, चुप रहो—मेरे लिए करना होगा ? क्या मैं राक्षस हूं ?

यशस्तिलका अत्यन्त गम्भीर हो गई। बोली, "प्रिय, मैं नहीं जानती, तुम क्या हो ? पर मेरा सब-कुछ तुम्हारे रास्ते में चूर्ण-चूर्ण नहीं हो लेगा तब तक तुम्हारा कांटा नहीं टलेगा और मेरी भी मुक्ति नहीं होगी।"

यशोविजय ने आवेग से कहा, "यश—"

यशस्तिलका भरी वाणी में बोली, "मेरे प्रिय, तुम जानते हो कि जगत में एक मेरे ही पक्ष में तुम कमज़ोर हो। मैं इसे नहीं सहूंगी। मैं तुम्हें रंच-मात्र भी कमज़ोर नहीं होने दूंगी। मैं न होती तो क्या तुम जयवीर के विचार पर तनिक भी अटकते ? मैं हूं तो भी तुम नहीं अटकने पाओगे। यशोविजय, मेरे राजा, तुम राजा बने हो, यह काफ़ी नहीं है। तुम्हें सम्राट् बनना होगा। रास्ते में तुम्हारी यश विधवा बने, या कि मरे, तुम्हें रुकना नहीं होगा। और यह भी समझ रखो कि उस राह में यश जितनी काम आयगी, उतनी यथार्थ में वह सिद्ध होगी। इसको भावुकता समझकर तुम उड़ा देना चाहते हो तो तुम जानो, पर मेरा दूसरा अभीष्ट नहीं है।"

यशोविजय यह सुनकर अब सन्न रह गए। कहा, "क्या इसीलिए कविता से हटकर स्वप्न की कर्म में पूर्ति करने के मार्ग पर चला था ? क्या यही तुम्हारी प्रेरणा थी ? क्या इसी के लिए तुमने मुझे ठेलकर राजा बनने को मजबूर किया था ?"

यश—हां, इसीलिए कि विजयी बनो। विवाह करके तुम साधारण हो जाते; पर तुम्हें असाधारणता पर चलना होगा। मुझे दिया वह प्रण भूल गए कि महाराष्ट्र की अखण्डता तुम्हारा व्रत होगी और बीच में कोई वस्तु तुम्हें न रोक पायगी; लेकिन यह क्या, तुम मुझी पर रुकते हो ?"

यशोविजय ने भर्त्सना के स्वर में कहा, "मायाविनी, अगर मैं अभी सब छोड़कर चला जाऊं तो—?"

यशस्तिलका किंचित् कटाक्ष से मुस्कराकर बोली, "यही तो

कहती हूं तुम नहीं जा सकोगे। जिस स्वप्न पर तुमने अब तक तमाम जीवन व्यय किया है, वह तुम्हें अपनी ओर खींचे बिना न रहेगा। तुम चाहो तो भी दया के वश में न होगे? छिः, दया तुम्हें तोड़ेगी?"

यशोविजय ने कहा, "यश, तुम मेरी किसी असाधारणता पर नहीं, अपनी असाधारणता पर मुग्ध हो। पर यह भ्रम है! सुनो, मैं द्वार खोलकर जयवीर के पास जा रहा हूं—चौंको नहीं, डरो नहीं। एक बार मुझे कुछ वह भी करने दो, जो तुम्हारी योजना से बाहर है। जयवीर मुझे पकड़ सकता है, सजा दे सकता है, पर वह यह न करेगा। मेरी मृत्यु अभी नहीं है। लेकिन मैं यह नहीं देख सकता कि जयवीर को मुझसे लड़ना हो।"

यश—न, न—वहां न जाओ। मैंने ही इस राज्य में तुम्हारे लिए नाग-फांस बो दिए हैं। तुम्हारे नाम का यहां इतना आतंक है कि डर के कारण ही वे तुमसे घृणा करने को लाचार हैं। अवस्था यह है कि वह चाहने पर भी तुमसे संधि नहीं कर सकते, तुम्हारा इतना गहरा अविश्वास यहां फैला दिया गया है। जानते हो—क्यों? इसलिए कि युद्ध हो और तुम विजयी हो। यहां एक मैं हूं जो तुम्हें प्रेम करती हूं। और मैं ही हूं जो सब घृणा की जड़ में हूं। यह मेरे ही कक्ष में तुम सुरक्षित हो। बाहर तुम्हारी खैर नहीं है और मैं किसी तरह तुम्हें बाहर नहीं जाने दूंगी।

यशोविजय ने हंसकर कहा, "तुम मुझे कैद करोगी? यही तो मैं चाहता हूं।"

यश—मेरे दो विश्वस्त अनुचर तुम्हें नगर से बाहर पहुंचा आयंगे, तुम किसी तरह यहां किसी पर प्रकट न हो सकोगे।

यशोविजय मुस्कराकर बोले, "राजा यशोविजय को इस प्रकार आने-जाने का अभ्यास नहीं है, यश! और तुम निःशंक रहो। प्रेमवश तुम्हारी वह घृणा मेरा उपकार न कर सकेगी।"

यह कहकर बिना कुछ और सुने जयवीर की ओर के कक्ष का द्वार खोल-कर यशोविजय वहां से चले गए। यशस्तिलका भय-कातर होकर देखती-भर

रह गई। सोच उठी कि क्यों न झपटकर अभी यशोविजय को आसन्न मृत्यु में से मैं खींच लाऊं? पर उसके देखते-देखते दूसरी ओर से वह द्वार बन्द कर दिया गया। तब परकटे पत्ती की भांति वह अपने बिस्तर पर आ पड़ी।

  

अगले दिन मालूम हुआ कि जयवीर संधि के लिए तय्यार हैं। और दोनों ओर के मंत्रियों की मन्त्रणा तीसरे स्थान पर होनी तय पा गई है।

यशस्तिलका ने पति से कहा, "यह तुम्हें क्या हो गया है? दो दिन पहले तुम युद्ध को तत्पर थे; इस बीच क्या नई बात हुई?"

जयवीर ने कहा, "रात यशोविजय आया था।"

यश चौंककर बोली, "यशोविजय?"

"हां, यह कहने आया था कि संघ के अधिनायकत्व के लिए वह मेरा समर्थन करेगा। स्वयं वह चुनाव में खड़ा नहीं होगा। इस आधार पर मैं जरूर सन्धि कर सकता हूं।"

यश ने कहा, "और तुमने उसका भरोसा कर लिया?"

"कर लिया।"

"क्या कह रहे हो? यशोविजय का विश्वास!"

जयवीर ने कहा, "विश्वास का कारण है। एक तो यह कि उसके पास शस्त्र और सेना ज्यादा है। दूसरे यह कि उसने मुझे बताया कि वह तुमसे मिलकर आया है।"

सुनकर यश चीख-सी मारकर आंखें फाड़े स्तब्ध रह गई।

जयवीर ने कहा, "यश, तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है। तुम्हें आराम करना चाहिए।"

"तो तुम संधि करोगे?"

जयवीर ने कहा, "मैं दूसरा मार्ग स्वीकार नहीं कर सकता। यशोविजय का कहना था कि मैं उसके राज्य को अपने में मिला लूं और वह मेरे अधीन मन्त्री होने को तय्यार है। शर्त्त यही कि सम्मिलित राज्य-संघ का समर्थन करे। पर यश तुम्हारी छोटी बहन का पति राजा से कम हो—

इसमें हमारी शोभा नहीं है। इसलिए दूसरा संधि का मार्ग ही मैंने स्वीकार किया—

यश चकित, विस्मित-सी रह गई थी। एकाएक बोली, "यशोविजय, तुम्हारा मन्त्री ! और तुमने स्वीकार नहीं किया ?"

"हां, वह यही कहने आया था, और मैंने स्वीकार नहीं किया। मैंने कहा—तुम्हारे पास तो मुझसे ज्यादा फ़ौज है, तो वह आंसू भर लाया। ऐसे आदमी का तुम मुझे अविश्वास करने को कहती हो ? लेकिन यश, वह तो कहता था कि तुम संधि के लिए राजी हो चुकी हो !"

यश जैसे चौंककर बोली, "क्या, कौन ?"

जयवीर ने कहा, "बात उठते ही मैंने उससे कहा कि संधि के बारे में यश से पूछना होगा। तब वह बोला—कि क्षमा करना, मैं वहीं से आ रहा हूं। यश ने मुझे मुआफ़ कर दिया है। और वह संधि के लिए राजी है। क्यों, क्या यह बात झूठ है ?"

यश ने कहा, "नहीं सच है।"

कहते हुए उसकी वाणी साधारण से भी अधिक स्थिर थी। फिर भी हठात हंसकर बोली, "तुमने उसका अविश्वास नहीं किया ? आधी रात मेरे कक्ष से आ रहा था, यह क्या सज्जन का लक्षण है ?"

जयवीर ने कहा, "तुम्हारा अविश्वास करूंगा, उस दिन क्या मैं जीवित रहूंगा ?"

यह सुनकर यश अपने पति की ओर निहारती रह गई। बोली, "मेरे कारण तुम्हें यशोविजय का विश्वास करना पड़ा। क्यों ?"

जयवीर ने कहा, "हां, आधी रात तुम्हारे पास से आकर ख़ुद मुझे जगाकर कोई मुझसे झूठ तो नहीं कह सकेगा ?"

यश ने कहा, "अच्छा तो उठो, मुझे मेरे कक्ष तक पहुंचा आओ।"



: २ :

लाल सरोवर

कमल के फूलों से भरे इस लाल सरोवर की कथा, भाई, प्राचीन है और परंपरा के अनुसार सुनाता हूं।

बहुत पहले यहां से उत्तर-पूरब की तरफ एक नगर बसा हुआ था। उसके बाहर खंडहर की हालत में एक शिवालय था। नगर के लोग उधर तब आते-जाते नहीं थे। वह उजाड़ जगह थी और कहा जाता था कि वहां भूत का वास है।

उस शिवालय में जाने कहां से एक उदासी आकर बस गया। वह यहां अकेला रहता था। मधुकरी के लिए कभी नगर में आ जाता तो आ जाता; नहीं तो अपने ही स्थान पर नित्य भजन-प्रार्थना में लीन रहता था।

इस भांति वहां रहते हुए उसे दस वर्ष हो गए। इधर बहुत काल हुआ, वह नगर में भी नहीं गया था। लोग शिवालय पर ही आकर उसे भोजन दे जाते थे। वह कुछ नहीं बोलता था। धन्यवाद या आशीष-वचन भी नहीं देता था। दिन में वह बाहर जंगल और खेतों की तरफ निकल जाता और अचरज से सब-कुछ देखा करता था। सुबह-शाम प्रार्थना में, कभी आंख मींचकर, तो कभी दरवाजे के बाहर की ओर एक-टक निगाह से देखते हुए, बिना कुछ कहे, आंसू ढालकर रोया करता था। उसे दुःख कुछ नहीं था। पर उसके मन में प्रीति बहुत मालूम होती थी।

उसके बारे में कोई कुछ नहीं जानता था कि वह पहले कहां रहता था, क्यों यहां आया और भविष्य के बारे में उसके क्या विचार हैं ?

इस तरह उसे पांच वर्ष और बीत गए। एक दिन सबेरे के वक्त उसके पास दर्शनार्थ गांव के लोग आये हुए थे कि उनमें से एक बोला, "महाराज, ईश्वर के जगत् में बुराई का फल बुरा और नेकी का फल अच्छा होता है। हम आंखों देखते हैं कि जो पाप-कर्म करता है उसकी पीछे बड़ी दुर्गति होती है।"

उस आदमी ने अपनी इस बात के समर्थन में उदाहरण दिया कि—हमारे ही नगर के बाहर एक कोढ़िन रहती है। वह पहले वेश्या थी। अब सारे तन-बदन में उसके कोढ़ चू रहा है और वह अपनी मौत के दिन गिन रही है।

उस वैरागी ने सुनकर कुछ नहीं कहा। जब लोग चले गए तो उसके मन में यह बात घूमती रही। पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख होता है। यही बात उसके मन में चक्कर काटती रही। उस कोढ़िन की बात उसके मन से दूर नहीं होती थी, जो अब नगर से बाहर पड़ी अपनी मौत के दिन गिन रही है। उस रात वह रोज़ से अधिक देर तक प्रार्थना में लीन रहा और रोता रहा। शायद उसको रात को भी ठीक तरह नींद नहीं आई। वह कल्पना में उस कोढ़िन को देखने लगा। उसको मालूम होता था कि उस स्त्री की देह से दुर्गन्ध निकल रही है। तन छीज रहा है। और कोई सेवा के लिए उसके पास नहीं है। फूंस की झोंपड़ी में पड़ी है और चारों तरफ गूदड़ इकट्ठे हो रहे हैं। बास फैली है। कहीं थूक है, कहीं मैल है। और वह कोढ़िन अकेले रहते-रहते बड़ी चिड़-चिड़ी हो गई है।

कल्पना में देर तक वह उस स्त्री को देखता रहा। यहां तक कि मन में बड़ा कष्ट हो आया।

रात को वह सोया। तब भी वह स्त्री उसके स्वप्न में दूर नहीं हुई; पर उसको ऐसा मालूम हुआ कि कोई उससे कह रहा है—तू वैरागी है, क्योंकि तुझे खाने-पीने को आराम से मिल जाता है। तू भगत है, क्योंकि लोग तेरी शरधा मानते हैं। पर तू मेरा भगत नहीं है, तन का भगत है।

उसे मालूम हुआ जैसे उसे कोई उलहना दे रहा है और कह रहा है कि तू अच्छे फल के लिए ही अच्छे काम करता है ना ! तू स्वार्थी है और कुछ नहीं है।

सबेरे जब वह उठा तो उसे कल की बात याद थी। इसलिए शिवालय में उतर कर नगर की ओर मुंह करके वह चल दिया। उसे कुछ ठीक पता नहीं था, पर जैसे पैर अपने-आप उठे जाते थे।

उसी नगर में एक आदमी रहता था। उसका नाम था मंगलदास। मंगलदास साधु-सन्तों में भक्ति-भाव रखता था। समझता था कि तपस्या की बड़ी महिमा है और सन्त लोगों पर ईश्वर की दया रहती है। उनके सत्संग से क्या जाने मुझे भी कुछ लक्ष्मी पाने का सौभाग्य मिल जाय। मंगलदास आदमी समझदार था, विद्यावान् और हुनरमंद था और इज्जत-आबरू वाला था। शिवालय में आकर एकान्त में बसने वाले उस वैरागी की सेवा में सदा भेंट-उपहार लाया करता था। सोचता था—अब फल मिलेगा, अब फल मिलेगा। वह मंगलदास आज सबेरे ही जल्दी उठ गया था। रात-भर उसके मन में दुविधा रही थी। ये दिन ऐसे ही थे। बाज़ार में तेजी-मन्दी हो रही थी। सट्टे के काम में छन में वारे-न्यारे हो जाते थे। आंखों देखते कुछ ने प्रचुर धन बटोर लिया था और कुछ कुबेर जैसे धनी परमाल हो गये थे। पर मंगलदास को भरोसा नहीं जमता था और ख़तरा नहीं उठाना चाहता था। इन मौनी वैरागी पर उसको श्रद्धा थी। सोचता था कि सबेरे ही उनके दर्शन करके जो दांव लगायगा उसका फल ज़रूर अच्छा ही आयगा। सबेरे-ही-सबेरे चलकर मंगलदास शिवालय पर आया तो रास्ते में क्या देखता है कि एक-एक क़दम पर एक-एक अशर्फ़ी पड़ी है ! उसे बड़ा अचम्भा और खुशी हुई। अशर्फ़ी उठाता गया और शिवालय पर आया। पर वहां वैरागी नहीं थे। लौटकर वह उसी रास्ते अशर्फ़ियों के पीछे-पीछे चला। अशर्फ़ी उठाकर रखता चला जाता था। इतने में क्या देखता है कि एक ग्वाले का लड़का रास्ता काटकर चला जा रहा है और

उसने दो अशर्फ़ियां उठा ली हैं। मंगलदास ने बढ़कर उस बालक को पकड़ लिया।

"यह तूने क्यों उठाई हैं रे?"

ग्वाले ने कहा, "रास्ते में पड़ी थीं। मैंने उठा लीं।"

मंगलदास ने उसे बहुत धमकाया—ऐसे क्या किसी की भी चीज़ उठा लोगे? फिर कहा, "अशर्फ़ियों की बात किसी से कहना मत।"

इस तरह मंगलदास अशर्फ़ियां बीनता-बीनता एक फूंस की नीची-सी मढ़िया पर जा पहुंचा। पर यहां उसे बड़ी दुर्गन्ध आई। वहां खड़ा रहना उसके लिए मुश्किल था। लेकिन उसे ऐसा मालूम हो रहा था कि यहीं कहीं सोने का ख़ज़ाना है। फिर भी उसके पास की बास और गन्ध के मारे वह अन्दर नहीं गया। उसे पता था कि यहीं वह कोढ़िन वेश्या अपनी आयु के अन्तिम दिन गिन रही है।

मंगलदास दूर एक जगह बैठकर अपनी अशर्फ़ियां देखने और गिनने लगा। वह अपने भाग्य पर बड़ा प्रसन्न था। तीन सौ से ऊपर अशर्फ़ियां आज सवेरे कैसे अनायास ही मिल गईं। उसे तो उन्हें साथ बांधे रखना मुश्किल हो रहा था।

इतने में देखता क्या है कि वेश्या की झोंपड़ी में से शिवालय वाले वैरागी निकले हैं। उन्होंने झोंपड़ी के चारों तरफ़ की धरती को साफ़ किया। मैला उठाकर दूर एक जगह गड्ढा खोदकर उसमें गाड़ दिया। यह सब करके फिर दुबारा वह कुटी के अन्दर गये। कुछ देर अनन्तर वैरागी बाहर आकर अपने शिवालय की तरफ़ चल दिये।

मंगलदास उनके पीछे-पीछे चला तो क्या देखता है कि जहां वैरागी का पैर पड़ता है वहीं एक अशर्फ़ी हो जाती है! उसका मन हर्ष से भर गया। पर मुंह से उसने सांस भी नहीं निकलने दी। वह जल्दी-जल्दी अशर्फ़ियां बीनता हुआ वैरागी के पीछे-पीछे कुटी तक गया। लेकिन इस भांति कि वैरागी को पता न चले। बीच-बीच में वह देखता भी जाता था कि कोई देख तो नहीं रहा है। और जब सब बीन चुका तो लौटकर सीधा अपने

घर गया और सब अशर्फियों को अच्छी तरह उसने धरती में गाड़ दिया।

फिर वैरागी के पास शिवालय पर आकर उनके चरणों में फल-फूल रखे और कहा, "महाराज इन्हें स्वीकार करें।"

वैरागी ने प्रीतिभाव से मंगलदास को देख लिया, पर बोले नहीं।

मंगलदास ने कहा, "महाराज, हम संसार में कर्म-बन्ध करते हुए रहते हैं। मैं अब इस संसार में राग नहीं रखना चाहता हूं। आपको इस निर्जन स्थान में बड़ा कष्ट होता होगा। मैं आपकी सेवा में उपस्थित रहना चाहता हूं। मंजूर हो तो सेवक यहां शरण में पड़ा रहे।"

वैरागी फिर बिना कुछ बोले मंगलदास को देखते रह गए, जैसे उनकी समझ में कोई बात नहीं आ रही थी।

असल में मंगलदास यह नहीं चाहता था कि वैरागी के चलने से बनने वाली दौलत किसी और के भी हाथ लगे।

उसने कहा, "महाराज आपकी सेवा कर पाऊंगा तो मेरा जीवन सफल हो जायगा।"

वह वैरागी पुरुष इस पर बहुत हंसा और हाथ हिलाकर उसको कहा, "यहां किसी की ज़रूरत नहीं है।"

तब मंगलदास ने कहा कि—पास ही फूंस की झोंपड़ी डालकर अलग पड़ा रहूंगा। मैं तो अपनी आत्मा की भलाई चाहता हूं। आपकी दया होगी तो जनम सुधर जायगा।

वैरागी जवाब में हंस दिये और कुछ नहीं बोले, और मंगलदास ने वहां आकर डेरा डाल लिया। वह बड़ी लगन से वैरागी की सेवा करता और हर घड़ी बिना पलक मारे हाज़री में खड़ा रहता था।

वैरागी नित्य सबेरे उस कोढ़िन के पास जाते थे और थोड़ी देर रहकर चले आते थे। हर रोज़ हर क़दम पर अशर्फ़ी बनती थी जिनको मंगलदास होशियारी से बटोर लेता था। बटोर कर घर में दाब आता था।

एक बार की बात है कि चलते-चलते वैरागी को पीछे कुछ झगड़ा होना हुआ मालूम हुआ। उन्होंने लौटकर देखा कि क्या बात है। देखते हैं तो

तीन जने आपस में झगड़ रहे हैं और रास्ते पर कुछ पीले सोने के टुकड़े पड़े हुए हैं।

वैरागी को मुड़ते देखकर झगड़ने वाले तीनों आदमी चुप हो गये और उनको सिर झुका दिया।

वैरागी वहां खड़े देखते रहे। उन्होंने पूछा—क्या बात है ?

जब तीनों में से कोई कुछ नहीं बोला, तब वैरागी ने मंगलदास को इशारा किया कि इन पीले टुकड़ों को उठाओ और इन दोनों को दे डालो

मंगलदास ने वैरागी के कहे मुताबिक़ उन अशर्फ़ियों को उठाया और दोनों को दे दीं।

वैरागी आगे बढ़े, लेकिन उन्हें फिर कुछ झगड़ा सुनाई दिया। इस बार बात और बढ़ गई थी। पर वैरागी ने ध्यान नहीं दिया और कोढ़िन की कुटिया की तरफ़ बढ़ते चले गये।

जब वापिस चलने का समय आया तो मंगलदास आकर वैरागी के चरणों में गिर पड़ा। कहा, "महाराज, मैं आपको पैदल चलने का कष्ट नहीं होने दूंगा। मेरा सिर पाप से मलिन है। अपने कन्धे पर बिठाकर महाराज को मैं ले चलूंगा, तो मेरा तन इससे पवित्र होगा।"

वैरागी यह देख हंसते हुए खड़े रह गए।

असल में मंगलदास यह नहीं चाहता था कि अशर्फ़ियां बनें तो किसी और को भी मिल जायं। उसने आग्रहपूर्वक वैरागी को कन्धों पर बिठाया और दूसरे लोगों को विजय के भाव से देखते हुए उन्हें शिवालय तक ले आया।

लोगों को यह बड़ा बुरा मालूम हुआ। लेकिन वे कर क्या सकते थे। वे सभी अशर्फ़ियां चाहते थे, पर कोई यह नहीं चाहता था कि वैरागी को अपने चलने से अशर्फ़ियां पैदा होने की बात मालूम हो। क्योंकि ऐसा होने पर अशर्फ़ियां किसी के हाथ नहीं लगेंगी और वैरागी अपना घर भर लेगा मूरख अनजान है, तभी तो यह आदमी इतना सूखा, दीन और वैरागी बनकर रहता है।

अशर्फ़ी की बात नगर-भर में फैल गई थी। मंगलदास को बड़ी कसक रहने लगी। इसके बाद से वह वैरागी को कन्धे पर ही ले जाया करता था। उसके मन में तरह-तरह के सोच होते। कई हज़ार अशर्फ़ियां उसके पास हो गई थीं, लेकिन उनका बढ़ना अब रुक गया था। इससे उसके मन को बहुत क्लेश था। उसने सोचा—वैरागी को यहां से कहीं और ले चलूं। जहां अशर्फी की बात किसी को मालूम न हो। लेकिन कैसे ले चलूं ? कोढ़िन को छोड़कर क्या वैरागी कहीं जाने को राज़ी होगा ?

मंगलदास ने नगरवासियों की एक रोज़ वैरागी से बहुत बुराई की। कहा—यह नगर सन्तों के योग्य बिलकुल नहीं है महाराज ! अब आप किसी दूसरे देश चलिये। आपका यह सेवक साथ है।

वैरागी सुनकर हंसता रहा। वह बोलता नहीं था।

मंगलदास खुलकर कुछ कह नहीं सकता था। उसे यह डर रहता था कि कहीं अपनी मर्जी से पैदल चलने की हठ वैरागी न कर बैठे। ऐसे भेद खुल जाता। इससे वह कभी बात बढ़ाता नहीं था।

आख़िर सोचते-सोचते मंगलदास को एक बात सूझी। सोचा कि कोढ़िन अपना कोढ़ लेकर क्यों जिये जा रही है ? शिवालय से उसकी झोपड़ी तक लोगों की आंखें बराबर लगी रहती हैं। वैरागी को यहां से वहां तक रोज़-रोज़ कंधे पर ले जाने से मेरा बदन भी दुखने लगा है और अशर्फियां भी नहीं मिलती हैं। इससे क्या फ़ायदा है ?

कोढ़िन के दिन निकट आ गये थे और वैरागी की सेवा भी उसके बहुत काम नहीं आ सकी। वह असल में मरना ही चाहती थी। वह ईश्वर की या दुनिया के लोगों की किसी की, क्षमा नहीं चाहती थी। उसे अपने पापों का ख़याल था और जानती थी कि यह उसकी सजा है। जब से वैरागी उसके पास आने लगा था तब से उसकी आदत बदलने लगी थी। पहले वह सबको फूहड़ गालियां दिया करती थी और दिन-भर बकती रहती थी। वैरागी ने जब हर तरह की गालियां खाकर भी उसे कोई चिढ़ाने की बात नहीं कही, बल्कि बिना कुछ बोले वह उसकी कुटिया की

सफाई कर देता था, उसका थूक-मैल उठा देता था और उसके गंदे कपड़े धो देता था, तो यह देखकर कोढ़िन को पहले तो कुछ ठीक तरह समझ में नहीं आया। थोड़े दिन बाद कोढ़िन मानने लगी थी कि मेरी मौत जल्दी क्यों नहीं हो जाती है। मेरी वजह से इन भलेमानस को दुःख उठाना पड़ रहा है। वह हर घड़ी ईश्वर से अपनी मौत की याचना करती थी, क्योंकि इन वैरागी की सेवा उससे नहीं सही जाती थी और वह मन-ही-मन अपने को बहुत धिक्कारती थी।

इधर वह कोढ़िन मरना चाह रही थी उधर मंगलदास ने सोचा कि—जब तक यह कोढ़िन यहां है वैरागी इस नगर से टलने का नाम नहीं लेता दीखता है। इसलिए इसको ख़तम करना चाहिए।

यह सोचकर मंगलदास एक रोज़ रात को चुपचाप आया और सोती हुई कोढ़िन का गला दाबकर उसे दुख-संताप से छुड़ा दिया।

अगले रोज़ मंगलदास के कन्धे पर बैठकर वैरागी बाबा कोढ़िन की कुटिया पर गये और देखा कि वह मर गई है। तब उन्होंने मंगलदास को कहा कि—कपड़े-लत्ते जमा करके जला दो। इस फूंस की कुटिया को भी जला दो और इस कोढ़िन के शरीर की क्रिया-कर्म का बन्दोबस्त करो।

मंगलदास को यह बहुत बुरा मालूम हुआ। लेकिन वह क्या कर सकता था। आख़िर उसने खर्चे का बहाना किया। कहा कि—महाराज, मैं तो इधर आपके पास रहता रहा हूं और कमाने की ओर से मैंने मुंह मोड़ लिया है। देखिये, नगर में जाकर किसी से कहूंगा। वैरागी सुनकर हंस दिया और बिना कुछ कहे मुड़कर नगर की तरफ़ चल दिया।

मंगलदास बड़ा खुश हुआ। क्योंकि इस समय नगरवासी तथा और कोई पास नहीं था और वैरागी के चलने पर हर क़दम पर जो अशर्फ़ी बनती सब वही उठाता और बटोरता जाता था।

क्रिया-कर्म के अनन्तर शिवालय पर आकर मंगलदास ने कहा, "महाराज, अब यहां से अन्यत्र पधारना चाहिए। यह नगर आपके योग्य नहीं रहा है।"

मंगलदास सोचता था—यहीं रहकर मैं ज़ायदाद बनवाऊंगा तो सब लोग ईर्ष्या करेंगे और कहेंगे कि यह रुपया इसने कहां से पाया ? तब आख़िर इस वैरागी को भेद मालूम हो जायगा। तब मेरे पास कुछ नहीं रह पायगा। इसीलिए वह सोचता था—यहां से दूसरी जगह जाकर मैं बड़ी हवेली बनवा लूंगा और एक कोठरी में इस वैरागी को जगह दे दूंगा। बस वहां श्रद्धालु जन आया करेंगे और भेंट-पूजा भी चढ़ावेंगे। ऐसे वैरागी से मुझको खूब आमदनी हुआ करेगी।

मंगलदास के घर में उसकी स्त्री थी और माता थी। रुपये की बात उसने अपनी माँ को नहीं बतलाई थी। बस स्त्री को बतलाई थी। जब नगर वालों ने देखा कि मंगलदास वैरागी से किसी दूसरे को नहीं मिलने देता है तो वे उसके दुश्मन हो गए। उनकी कोशिश रहने लगी कि इसके घर में फूट पड़ जाय।

ऐसी सस्ती आमदनी की वजह से मंगलदास पहले से कंजूस हो गया था। वह माता की बेक़दरी करता था। काम तो उसे खूब करना होता था, पर खाने को रूखा-सूखा ही मिलता था। नगर वालों ने मंगलदास की माँ को कहा—तुम्हारे बेटे को इस वक्त खूब मुफ़्त की दौलत मिल रही है। तुम्हारे तो वारे-न्यारे हैं।

माँ ने समझा—लोग हमारी ग़रीबी की हंसी उड़ाते हैं। उसने कहा, "भैया, ग़रीबी के दिन जैसे-तैसे हम लोग काटते हैं। हमारे पास धन कहां है ? ग़रीब की हंसी नहीं करनी चाहिए।"

तब नगर वालों ने कहा, "मंगलदास तुम्हारे साथ धोखा करता है। उसने जरूर धन कहीं छिपा रखा है।"

होते-होते माँ को भी इस बात का विश्वास आ गया और वह अपने बेटे की बहू से झगड़ा करने लगी। नतीजा यह हुआ कि रोज कलह होता और घर में अशान्ति बनी रहती।

मंगलदास को अब इस नगर में रहने का बिलकुल चाव नहीं रह गया था। गांव के लोग तो दुश्मन थे ही और घर में भी अनबन रहा

करती थी। सो उसने वैरागी को बहुत कहा-सुना कि इस नगर को छोड़कर चलना चाहिए।

वैरागी ने कुछ नहीं कहा। वह नित्य प्रार्थना में लीन रहता था। और कोढ़िन की आत्मा के लिए शान्ति की दुआ किया करता था।

मंगलदास ने कहते-कहते जब वैरागी के लिए चैन का अवसर ही नहीं छोड़ा, तो वैरागी ने कहा, "तुम क्या चाहते हो?"

मंगलदास बोला, "यहां के लोग अब आपको धर्म ध्यान नहीं करने देंगे। मैं जो आपकी सेवा में आ गया हूं इससे वे मुझसे दुश्मनी रखने लगे हैं। इसलिए आप इस नगर से कहीं दूसरी जगह चलिये।"

वैरागी ने कहा, "तुम मेरे पीछे घर-गृहस्थी क्यों छोड़ रहे हो?"

मंगलदास—महाराज, घर-गृहस्थी का बन्धन तो माया का बन्धन है। मुझे तो आपकी सेवा में सुख मिलता है।

वैरागी—घर में तुम्हारे कौन-कौन हैं?

मंगलदास—माता है, स्त्री है।

वैरागी—उनको अकेला नहीं छोड़ना चाहिए। जाओ, उनकी चिन्ता करो। तुम्हारे पीछे उनका गुज़ारा नहीं तो कैसे होगा?

मंगलदास—महाराज यह कैसी बात करते हैं! गुज़ारा कौन किसका करता है। सब ईश्वर का दिया खाते हैं। आप ही की शिक्षा तो है कि सबका पालनहार वही है। यह तो अहंकार है कि मैं किसी का पालन कर सकता हूं। मुझे अब संसार से मोह नहीं है। मैं तो आपके चरणों का सेवक होकर प्रसन्न हूं।

वैरागी सुनकर हंस दिया। बोला, "अच्छा समझो अपनी माता और पत्नी की सेवा भी मेरी ही सेवा है। यह समझकर जाओ, उन्हीं के पास रहो।"

वैरागी के ये वचन सुनकर मंगलदास को बड़ी निराशा हुई। उसके मन में तो महल बनने लगे थे। इन वचनों से उनकी बुनियाद ही ख़तम

हुई जा रही है। मंगलदास ने वैरागी के चरण पकड़ लिये। कहा, "महाराज की मुझ पर अदया क्यों है।"

वैरागी ने कहा, "अगर संसार की तृष्णा नहीं है तो सेवा की भी तृष्णा नहीं होनी चाहिए। ईश्वर तो सब कहीं है। तुम्हारे घर में नहीं है और ईश्वर यहां इस कुटिया में ही है अगर मानते ऐसा हो तो तुम्हारी बड़ी भूल है। मेरी सेवा तुम करना चाहते हो तो क्या बतला सकते हो कि क्यों चाहते हो ?"

मंगलदास—महाराज, मुझे अपनी मुक्ति की इच्छा है। आपकी सेवा से मेरी मुक्ति का मार्ग खुल जायगा।

वैरागी—मुक्ति का मार्ग घर में रहकर अगर बन्द होगा तो उसे बन्द करने वाले तुम्हीं हो सकते हो। अन्यथा वह वहां भी खुला है। जाओ। मुझको छोड़ो। मेरी सेवा अब भी तुम क्या कर सकते हो ? यह मेरा तन सेवा के लायक नहीं है। यह तन दूसरों के काम आ सके—इसीलिए मैं धारण किये हुए हूं। अगर तुम इसमें मोह रखोगे तो मेरा अपकार करोगे।

लेकिन मंगलदास भक्ति-भाव से उनके चरणों में नमस्कार करके कहने लगा, "महाराज, मुझ पर अदया न करें। मैं तुच्छ संसारी जीव हूं। भक्ति भावना से आपके पास आ गया हूं। मुझे फिर वापिस संसार के नरक में आप न भेजें।"

वैरागी फिर हंसने लगे। बोले, "जैसी तुम्हारी इच्छा। लेकिन आगे हर कष्ट के लिए तुम्हें तय्यार रहना चाहिए।"

अगर साधु के पास से अशर्फियां बराबर मिलती जाया करें तो कष्ट की गिनती करने वाला मंगलदास नहीं था। वह जानता था कि एक बार कष्ट उठाकर अगर बहुत-सा धन हाथ आ जायगा तो जन्म-जन्म के संकट उसके दूर हो जायंगे। दुनिया में सोना ही इज्जत है। सोने के सब हैं—स्त्री है, भाई है, बन्धु है, सगे सम्बन्धी हैं। वह गांठ में नहीं है तो कोई भी किसी को नहीं पूछता है। यह सोचकर मंगलदास ने कह दिया,

"महाराज, आपके साथ रहकर तो शूल भी मेरे लिए फूल हो जायंगे। मुझे इस जगत् में और किसी की इच्छा नहीं है। सन्त-समागम ही मेरे लिए परम सौभाग्य है।"

इतना कहने पर वैरागी उस नगर को छोड़ने को राजी हो गया। दोनों उस नगर से चल दिए। वहां से थोड़ी दूर चले होंगे कि साधू की काया बिगड़ने लगी। रास्ते में पानी की एक नहर पड़ती थी। साधू जी उसी नहर के किनारे पर बैठ गए। उन्होंने कहा, "मंगलदास, अब तो मुझसे चला नहीं जाता है। तुम लौटकर जाना चाहो तो अभी जा सकते हो। नहीं तो मेरे लिए यहीं कुछ व्यवस्था करनी होगी। मैं इस शरीर से अब आगे नहीं चल सकता।"

मंगलदास वैरागी से ज़रा पीछे रहकर उनके हरेक क़दम पर जो अशर्फ़ी बनती थी उठाता चला आ रहा था। इसलिए यह सुनकर भी वह वैरागी को अकेला नहीं छोड़ सकता था। उसने बड़ी ख़ुशी के साथ कहा, "महाराज, यहां विश्राम कीजिये। मैं सब व्यवस्था किये देता हूं।" यह कहकर मंगलदास वापिस अपने घर लौट आया और वहां स्त्री को अपने साथ की अशर्फ़ियां सौंप दीं। कहा, "तुम मेरी चिन्ता न करना, जब तक उस बेवकूफ़ साधू के पास हूं तब तक समझो कि हर दिन के हिसाब से सैंकड़ों रुपये मैं कमा रहा हूं। लौटूंगा तो खूब धन भरकर लौटूंगा। समझीं! या नहीं तो यहीं किसी पास के बड़े नगर में हवेली चिनवा लूंगा और तुमको भी वहां बुलवा लूंगा। तब हम दोनों राजसी ठाट से रहेंगे!"

लौटकर मंगलदास वैरागी के पास पहुंचा तो हांफ रहा था। उसने कहा, "महाराज, मैं आस-पास गांव-गांव घूम कर आया हूं। लोग बड़े अश्रद्धालु हैं। साधुओं की महिमा नहीं जानते हैं। कहीं से कुछ भी सहायता मैं नहीं पा सका। चलिये। यहां से दो कोस पर एक गांव है। वहां तक चले चलिये। वहां सब इन्तजाम हो जायगा।"

वैरागी ने कहा, "मुझसे अब नहीं चला जायगा। मैं इस पेड़ के नीचे ही रह जाऊंगा। तुम अब भी चाहो तो जा सकते हो।"

मंगलदास के मन में था कि आगे के गांव तक पहुंचते-पहुंचते जाने कितनी अशर्फियां और हो जायंगी। लेकिन यह वैरागी तो मानता ही नहीं है। उसने बहुत समझाया लेकिन वैरागी पेड़ के नीचे बैठकर आराम से सो गया।

मंगलदास तब उठकर गया और गांव में पहुंचकर वैरागी की बड़ी तारीफ़ की। बात का हुनर तो उसके पास था ही। थोड़ी देर में गांव वालों की सहायता से नहर के किनारे एक झोंपड़ी तय्यार हो गई और श्रद्धा से भीगे हुए गांव के दो-एक आदमी सेवा के लिए उत्सुक होकर वहां रहने लगे।

वैरागी की तबियत संभलती नहीं दीखी। उनको बार-बार कै होती थी और दस्त होते थे और वे कुछ खाते-पीते न थे। मंगलदास ने उन साधू की प्रशंसा में जो कुछ कहा था गांव वालों ने वैसी कुछ भी महिमा इन साधू में नहीं देखी। इसलिए वे एक-एक कर उन्हें छोड़कर चल दिये।

असल में मंगलदास किसी को साधू के बहुत निकट नहीं आने देना चाहता था। क्योंकि अगर साधू की असल महिमा का भेद किसी को चल जाय तो इसमें मंगलदास को बहुत नुकसान था। इसलिए इस आशा में कि साधू कभी अच्छे होंगे, मंगलदास उनकी सेवा-टहल करने लगा। कै होती तो उसको अपने हाथों से साफ करता। इसी तरह और भी सब सेवाएं करता। दिन-पर-दिन हो गए। साधू क्षीण होकर ठठरी की भांति रह गया। लेकिन मंगलदास की आशा नहीं सूखी और वह साधू की सेवा से विमुख नहीं हुआ।

देखा गया कि वैरागी कमज़ोर होकर अब बहुत चिड़चिड़े हो गए हैं। ज़रा-ज़रा-सी बात पर मंगलदास को वह बहुत सख्त-सुस्त कहते हैं। कोई भूल हो जाती है तो बहुत डांटते-डपटते हैं। कहते हैं—

"अभी तुम सामने से चले जाओ!" लेकिन मंगलदास सब दुर्वचन नम्रता के साथ स्वीकार करता है। उत्तर कुछ नहीं देता और सेवा में कोई त्रुटि नहीं आने देता।

मंगलदास को ऐसी एक-मन सेवा देखकर गांव वालों पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा और वे साधु को छोड़कर मंगलदास की ही श्रद्धा करने लगे। वे उसकी बड़ी बड़ाई मानते थे और उसको अपनी श्रद्धा का तरह-तरह का उपहार देते थे।

जब उसकी अपनी बड़ाई होने लगी तब उसने सोचा कि यह तो नया रास्ता दौलत मिलने का हो रहा है। अब साधु का मैं साथ क्यों पकड़े रहूं? यह सोचकर उसने साधु से अलग एक अपनी कुटिया बना ली और अधिक काल वहीं रहने लगा। देखते-देखते उसकी प्रशंसा आस-पास चारों तरफ फैल गई और लोग उसके दर्शन को आने लगे।

इधर बराबर की झोंपड़ी में वह वैरागी पड़ा ही था। अब भी मंगलदास रात को आकर उसकी सुश्रूषा किया करता था ताकि ऐसा न हो कि कहीं यह वैरागी उठकर यहां से चल दे। लेकिन अब मंगलदास को यह भी ख़याल रहता था कि कहीं ये एकदम चंगे न हो जायं कि उसके काबू से बाहर ही हो जायं।

होते-होते वैरागी अकेले पड़ गए और मंगलदास की कुटिया श्रद्धालु लोगों से भरी रहने लगी।

अकेले पड़कर वैरागी की तबियत धीरे-धीरे ठीक होने लगी।

एक दिन बहुत सबेरे कुछ दर्शनार्थी लोग मंगलदास के पास आये कि रास्ते में क्या देखते हैं कि थोड़ी-थोड़ी दूर पर एक-एक अशर्फी पड़ी है। उनको बड़ा अचम्भा हुआ। उन्होंने सोचा कि जरूर इसमें कुछ मंगलदास की महिमा है। इसलिए आकर उन्होंने वे अशर्फियां मंगलदास के सामने रखीं और नमस्कार करके कहा कि—महाराज, आपकी ओर आते हुए रास्ते में ये अशर्फियां हमको मिलीं। जरूर आपके दर्शनों के पुण्य का यह प्रताप होगा। इससे ये आपकी भेंट हैं।

मंगलदास सुनकर कुछ नहीं बोला। उसका माथा ठनक गया। उसने जान लिया कि वैरागी यहां से कहीं चला गया है। इसलिए लोगों के चले जाने पर चुपचाप उसने वैरागी को ढूंढ़ना शुरू किया। पर आस-पास की अशर्फियां उठ ही गई थीं। इससे उसे कोई सहारा खोजने का नहीं मिला।

तब अगले दिन सवेरे उसने गांव वालों से कहा, "मैं कल मन्त्र का अभ्यास कर रहा था। उसके बाद जो हाथ में भस्म उठाई तो वह सोना बन गया। मालूम होता है वह जो बीमार वैरागी पास में रहता था रात को उन सोने के सिक्कों को चुराकर भाग गया है। मैं तो सोचता था कि तुम लोगों को वे सिक्के बांट दूंगा। लेकिन वह वैरागी तुम लोगों का हिस्सा लेकर भाग गया है। उसको तलाश करना चाहिए।"

यह सुनकर गांव वाले बड़े उत्साह से उस साधु की खोज करने निकले। आख़िर अशर्फियों के निशान से साधु को पा लेने में कठिनाई नहीं हुई। वह एक जगह पेड़ के नीचे जाकर सो गया था। गांव वाले उसको पकड़कर और बांधकर मंगलदास के पास ले आये।

अब तक मंगलदास अपनी प्रतिष्ठा के बारे में निश्चिन्त हो गया था। एकांत पाकर उसने वैरागी से कहा "देखो वैरागी, तुम मुझे बग़ैर साथ लिये अगर कहीं जाओगे तो जैसी तुम्हारी दुर्गति होगी; वह तुम जानते ही हो। मैंने कहा था कि मुझे तुम अपनी सेवा से अलग मत करो। अब तुम देखते हो कि अगर तुम मेरी उपेक्षा करते हो तो मेरी महिमा तुमसे कम नहीं है। देखो गांव वाले मुझको पूजते हैं और तुम्हारी इज्जत उनके मन में कुछ भी नहीं।"

वैरागी ने कहा, "मैं अब रोगी नहीं हूं। कमजोर नहीं हूं। अपना सब काम कर सकता हूं। चल-फिर सकता हूं। तब तुमको अपने साथ रखने का मुझको क्या अधिकार है? फिर अब तुमको मेरी आवश्यकता भी क्या है। धर्म का अभ्यास तुमको हो ही गया है। मालूम होता है

सिद्धि भी तुमको मिल गई है। अब तुम्हारी लोग सेवा करने लगे हैं तो ठीक भी है। तुम्हें अब दूसरे की सेवा करने की चिन्ता क्यों होनी चाहिए?"

मंगलदास ने अपने आसन पर से ही बैठे-बैठे कहा, "नहीं वैरागी, मुझे अपनी इस मान-प्रतिष्ठा में कुछ भी रस नहीं है। ये तो सब ज़बरदस्ती मुझको देते हैं। मेरा मन कुछ तुम्हारी प्रीति में भर गया है। देखो न, अपने ऊपर पाप का बोझ लेकर भी तुम्हें मैंने अपने पास पकड़ बुलवाया। अब बोलो, अगर मुझको साथ लेकर चलना चाहते हो तो मैं यहां की सब मान-पूजा को छोड़कर आज ही तुम्हारे साथ चल सकता हूं।"

वैरागी ने कहा, "मेरा कोई आश्रय-स्थान नहीं है। क्या ठिकाना है कि मैं कहां भटकता फिरूं। प्रभु का नाम ही मेरा सब कुछ है और मेरे पुराने पाप मुझे एक क्षण के लिए भी चैन नहीं लेने देते हैं। इसलिए मैं अपनी बे-ओर-छोर की भटकन में तुम्हें कहां साथ रखूं? तुम जानते हो कभी मैं खाना पाता हूं, कभी नहीं पाता। मुझे कोई कला नहीं आती है। दीन-दुखियों में मेरा गला खुलता है। बड़े लोगों में मेरे मुंह से बोल भी नहीं निकलता है। देखो खुद ही दीन हूं, दुखी हूं। तुम खुद ही सोचो कि उन दीन-दुखी लोगों में जाकर मेरे से तुम्हें क्या आशा हो सकती है?"

इसी तरह वैरागी अपने सम्बन्ध में हीनता की बातें बहुत देर तक कहता रहा।

तब मंगलदास ने कहा, "वैरागी! इसकी चिन्ता न करो। जगत् में सोने की कीमत तुम जानते हो। वह एक मुट्ठी मैं तुम्हें दे दूंगा। उससे फिर तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा।"

वैरागी ने आश्चर्य से कहा, "तुम्हारे पास सोना है। तब तुम मेरे साथ क्यों रहते हो? मेरे साथ तो कुछ भी नहीं है।"

मंगलदास ने कहा, "मेरे पास सोना है, फिर भी जो मैं तुम्हारे साथ रहने को कहता हूं इसका मतलब यही है कि तुम्हारे पास सोने से बड़ी चीज़ है।'

वैरागी ने कहा, "तुम अगर कोई बड़ी चीज़ मानते हो और उस बड़ी चीज़ को चाहते हो तो फिर सोने को क्यों अपने पास रखे हुए हो ? मुझको नहीं मालूम था कि तुम सोने को पास रखकर चलते हो।"

मंगलदास को यह सुनकर बड़ा अचम्भा हुआ। बोला, "ये सोने की मोहरें गांव वाले कल सबेरे मेरे पास डाल गए हैं। मैं इनका क्या करूं ? दुनिया में जो कष्ट होता है वह अधिकतर इस सोने के अभाव से होता है। इसलिए कहता हूं कि मुझको तो कोई कष्ट है नहीं। गांव वाले सभी कुछ मुझे दे जाते हैं। लेकिन तुम पर मुझको दया आती है तुम एकदम अनजान आदमी हो। क्या तुम समझते हो तुम्हारी किसी महिमा के कारण मैं तुम्हारे साथ रहना चाहता हूं ? नहीं, मैं धर्मात्मा आदमी हूं। मेरा हृदय कोमल है। तुम पर मुझे दया होती है। तुम एकदम निरीह मालूम होते हो। ईश्वर का आदेश है कि ग़रीब और असहाय पर दया करनी चाहिए। इसी वजह से मैं तुम्हारे साथ रहना चाहता हूं कि जिससे तुम्हारी बीमारी में मैं तुम्हारे काम आऊं और मुझे सन्तोष हो कि ईश्वर की आज्ञा के अनुसार मैं तुम जैसे असहाय प्राणी की मदद करता हूं।"

वैरागी यह सुनकर मंगलदास का बड़ा कृतज्ञ हुआ।

उसने कहा, "मैं सचमुच बड़ा पापी हूं। लो तुम जो मेरे साथ हुए तो मैं उसमें अपनी बड़ाई मानने लगा। मैं तुमसे अपने को मन-ही-मन में विशेष गिनता था। लेकिन अब तुमने मेरी आंखें खोल दी हैं। मैं तुम्हारा बड़ा उपकार मानता हूं। अब मालूम होता है कि तुम सिर्फ़ दया-भाव से मेरे साथ थे। और यह तुम्हारी मुझ पर कृपा थी। दया की अब भी मैं तुमसे, जगत से और ईश्वर से अपने लिए याचना करता हूं। लेकिन मेरा तन इस योग्य नहीं है कि इसकी चिन्ता की जाय। जब तक चलता है, चलता है। एक दिन तो इसको गिर ही जाना है। ईश्वर जब भी वह दिन लाये। इसलिए इसकी मुझको फ़िक्र नहीं है।

घूमता, भटकता फिर कभी भाग्य हुआ तो मैं आपके दर्शन करने आऊंगा। अभी तो मुझको आगे चलने दीजिये।

मंगलदास ने कहा, "वैरागी, तुम मेरी धर्म-भावना में बाधा डालने की कोशिश करते हो। मैं ईश्वर की आज्ञा का पालन कर रहा हूं। तुम्हारी मुझको बिलकुल चिन्ता नहीं है। तुम्हारे जैसे बहुतेरे ढोंगी फिरते हैं। यह तो ईश्वर की मुझको आज्ञा है कि मैं तुम पर दया दिखाऊं! इसी से मैं उस आज्ञा को टाल नहीं सकता, नहीं तो तुम्हीं सोचो कि मुझे यहीं भजन-प्रार्थना का सब सुभीता है। मैं उसे छोड़कर जाने वाला नहीं हूं। इसीलिए सुनते हो वैरागी, अगर तुम भलमनसाहत से रहना चाहते हो तो बिना मुझे कहे और बिना मुझसे अनुमति लिये और बिना मुझे साथ लिये कहीं मत जाना! नहीं तो तुम मेरी शक्ति को जानते हो। यहां के गांव वालों को इशारा-भर करने की ज़रूरत है। तुम्हारा फिर कहीं पता तक नहीं मिलेगा।"

वैरागी की समझ में मंगलदास की बात बस इतनी ही आई कि मंगलदास ईश्वर की प्रार्थना का पालन करना चाहता है और उसमें मुझे बाधक नहीं बनना चाहिए। यह सोचकर वैरागी वहां रहने लग गया और मंगलदास की सेवा-सुश्रूषा करने लगा।

तब उस मंगलदास ने गांव के एक जवान लड़के को एकान्त में अपने पास बुलाकर कहा कि—देखो, वह हमारा चेला हो गया है। हमारी बड़ी भक्ति श्रद्धा रखता है। इसलिए हमने उसको वरदान दिया है कि जब यह किसी शुद्ध प्रयोजन से कहीं जायगा तो इसके हरेक क़दम रखने पर एक-एक अशर्फ़ी बनती जायगी। देखी तुमने भक्ति की शक्ति! यह प्रताप तपस्या का है। अब तुम एक काम करो। जहां कहीं वह जाय उसके पीछे-पीछे जाया करो और अशर्फ़ियां उठा लिया करो। कोशिश यह करना कि उसको या किसी और को पता न चले। बात यह है कि यदि उसको पता चलेगा तो उसमें अहङ्कार का उदय हो सकता है।

अहङ्कार से फिर साधना नष्ट हो जाती है। इसलिए शिष्य का भला इसमें ही है कि उसको अपनी सफलता का पता न चले।

गांव का वह जवान, जिसका नाम सुमेर था, इस बात को सुनकर बहुत प्रभावित हुआ और बड़ा खुश हुआ। वह वैरागी के साथ रहता और रास्ते में जितनी मोहरें बनतीं सब उठा लेता। पहले रोज़ उसने सब मोहरें अपने गुरुजी को दे दीं। लेकिन एक बचाकर रख ली। सोचा—अपने घर में माँ को दिखाऊंगा और देखकर वह अचरज में आंख फाड़ती रह जायगी। तब मुझे कितनी खुशी होगी। वह पूछेगी, कहां से आई ?

मैं कुछ उत्तर नहीं दूंगा।

आख़िर सोचेगी कि मैं कहीं से चुराकर तो नहीं ले आया ? लेकिन तब भी मैं उत्तर नहीं दूंगा। वह भला क्या जान सकती है। मुझे साक्षात देवता-स्वरूप गुरु मिल गए हैं। तब भला सोने की मोहरों की क्या बात है।

लेकिन धीरे-धीरे सुमेर ने देखा कि गुरु जी पूरा-पूरा हिसाब लेते हैं कि—बताओ चेला कितनी दूर गया था, वह जगह कितने गज़ है, उसमें कितने कदम होंगे, इत्यादि। इस तरह सोने की मोहर का महत्त्व सुमेर के दिल में बढ़ने लगा और गुरुजी का महत्त्व कुछ कम होने लगा। तब उसने कुछ मोहरें अपने पास रखनी शुरू कर दीं। उन्हें ले जाकर चुपके से एक घड़े के अन्दर छिपा देता था और किसी से नहीं कहता था।

एक रोज़ की बात है कि उसकी स्त्री ने घड़े में से सामान निकाला, तब मोहरें भी उसमें से निकलीं। यह देखकर ख़ुशी के साथ उसे गुस्सा भी हुआ और उसने शाम को पति के आने पर ख़ूब झगड़ा मचाया। कहने लगी कि तुम यों तो पैसे-पैसे के लिए मुझसे झूठ बोलते हो, मेरा हाथ तंग रहता है, कमाई में कुछ नहीं मिलता है, इस तरह के बहाने बनाते हो और यहां घर में मोहरें छिपा रखी हैं !

बात अड़ोस-पड़ोस वालों ने भी सुनी। अशर्फ़ी का नाम सुनकर लोग बड़े उत्सुक हुए और जब सुमेर ने कुछ नहीं बताया तो चोर

समझकर मारने-पीटने लगे। तब उसने कहा, "मैं चोर नहीं हूं। साधू जी ने मुझको ये मोहरें दी हैं।"

इससे गांव के लोगों में मंगलदास प्रताप और भी चढ़-बढ़ गया। वह बहुत सादे ढंग से रहता था। इतना धन होकर भी सादगी से रहना कम बात नहीं है। सच्चे त्यागी पुरुष ही ऐसे रहा करते हैं। यह सोचकर गांव वालों की भक्ति संत मंगलदास में और भी गहरी हो गई।

उधर वह बेचारा वैरागी जंगल से लकड़ी चुनकर लाता। कण्डे बीनता और उनसे भोजन बनाता और साधु की हर तरह की टहल-चाकरी करता।

लेकिन धीमे-धीमे उसको इस बात का बड़ा अचरज होता जाता था कि मेरे साथ साधू जी का आदमी क्यों चलता है? उसने सोचा कि मेरे काम में कुछ त्रुटि रहती होगी। इसीलिए साधु जी दया-भाव के कारण आदमी को मेरे साथ भेजते हैं।

लेकिन जब भेद खुल गया तब सुमेर के लिए मौन बने रहने का कारण भी नहीं रह गया। गुरु जी में उसकी श्रद्धा बराबर कम होती जा रही थी। इसलिए अपने एक बचपन के साथी चंदन से उसने सच्ची-सच्ची बात कह दी। तब चन्दन भी उस वैरागी के पीछे सुमेर के साथ रहने लगा। अब वे दोनों जितनी अशर्फ़ियां बनतीं उनमें से नाम के लिए कुछ गुरु जी को दे देते थे, बाकी सब अपने पास रख लेते थे।

सुमेर और चन्दन दोनों ही उस वैरागी को बुद्धू मानते थे। लेकिन जब कई दिन हो गये और दोनों ने चुपके-चुपके काफ़ी मोहरें अपने पास जमा कर लीं, तब उनको उस वैरागी पर बड़ी दया आई। एक दिन जंगल में रोककर उन्होंने उस वैरागी से कहा, "वैरागी, ये लो मोहरें लो। ये तुम्हारी हैं।"

वैरागी सुनकर सन्न खड़ा रह गया, जैसे कि उस पर बिजली गिरी हो। उसने कहा, "बाबा, मेरा सोने से क्या काम है?"

चंदन ने कहा, "वैरागी, हम सच कहते हैं। ये हमारी अशर्फियां नहीं हैं, तुम्हारी हैं।"

वैरागी ने कहा, "बाबा, वैरागी से ऐसी हंसी नहीं करनी चाहिए। सोने से मन पर मैल चढ़ता है।"

चन्दन ने कहा, "वैरागी, तुम हमें रोज ही तो देखते होगे; हम तुम्हारे पीछे-पीछे चलते हैं। बताओ, भला क्यों? भेद यह है कि तुम जहां पैर रखते हो वहीं एक मोहर बन जाती है। उसी लालच में हम तुम्हारे पीछे-पीछे चला करते हैं। हमने इस तरह बहुत-सी मोहरें जमा कर ली हैं। यह एक तरह हमने चोरी ही की है। लेकिन तुम्हारी दीनता देखकर हमको अब शरम आती है। ये लो, हम सच कहते हैं, ये तुम्हारी हैं। इनको रखो और अपनी हालत सुधारो, संभलो। तुम किसलिए इतनी कड़ी मिहनत करते हो और दिन-रात उस साधु की सेवा में रहते हो?"

वैरागी सोने की मोहरों की बात सुनकर और उन्हें सामने देखकर हैरत में रह गया था। उसको कुछ जवाब नहीं सूझा।

चंदन ने कहा, "वैरागी, तू हमारी बात झूठी मानता है। लेकिन हम सच कहते हैं।"

थोड़ी देर वैरागी गुम-सुम खड़ा रहा। लेकिन फिर वहीं एकदम गिरकर हाथों में मुंह लेकर रोने लगा।

सुमेर और चन्दन वैरागी की यह हालत देखकर अचकचा गए। उनकी कुछ समझ में नहीं आया कि क्या करें।

वैरागी ने कुछ देर बाद ऊपर को मुंह उठाकर आसमान में देखते हुए रोकर प्रार्थना की, "हे ईश्वर, हे मालिक, अब यह सज़ा तुम मुझे किस पाप की देते हो? सोने को मेरे तन और मन से कब बिलकुल छुड़ा दोगे? यह मैं क्या देखता हूं, कि अब भी सोने से मेरा पीछा छूटा नहीं है। हे भगवन्, क्या तुम चाहते हो कि मैं यहीं जान दे दूं? नहीं तो अब से कभी सोने की बात मेरे साथ लगी हुई मुझे नहीं सुनाई देनी चाहिए।"

इस तरह वह कुछ देर प्रार्थना करता रहा। फिर चन्दन और सुमेर के साथ वापिस चल दिया।

चन्दन और सुमेर ने देखा कि अब वैरागी के चलने पर मोहरें नहीं बनती हैं। बल्कि एक सचमुच का फूल बन जाता है जो गुलाबी रंग का होता है, नन्हे हृदय के आकार का।

मंगलदास के डेरे पर पहुंचकर इस बार सुमेर ने एक भी मोहर अपने गुरु को नहीं दी। कहा, "अब वैरागी के चलने पर अशर्फ़ी नहीं बनती हैं।"

मंगलदास यह सुनकर नाराज़ हो गया और दुर्वचन कहने लगा। इस पर चन्दन और सुमेर ये दोनों भी बिगड़ गए और वे भी साधू से सवाल-जवाब करने लगे। सुनकर वैरागी वहां आया। उस वक्त मंगलदास ने बात का ढंग बदल कर कहा, "वैरागी, ये दोनों लड़के तुम्हारी रोज़ चोरी किया करते थे और मैं इनको रोज़ समझाता था कि वैरागी की चीज़ वैरागी को भी देनी चाहिए। लेकिन ये बड़े धूर्त हैं। तुमको अब तक इन्होंने नहीं बतलाया कि तुम्हारी वजह से कितना सोना इन्होंने पा लिया है। लाओ रे लड़को, जितनी अशर्फ़ियां तुम्हारे पास हैं सब यहां रखो। नहीं तो चोर कहलाओगे!" सुमेर तो इस पर लाजवाब-सा रह गया। लेकिन चन्दन ने कहा, "गुरुजी, अपना भला चाहो तो बदज़ुबानी मत करो। मैं सुमेर नहीं हूं और तुम्हारा गुरूपन भी नहीं समझता हूं। इन बेचारे सीधे वैरागी की बदौलत ही तुम चैन कर रहे हो। मैं अब सब समझ गया हूं। अपनी ख़ैर चाहो तो चुप रहो। नहीं तो अभी गांव वालों को बता दूंगा और तुम्हारी वह दुर्गति होगी कि याद रखोगे!"

इस बात के बीच में वैरागी खड़ा हुआ ईश्वर से प्रार्थना कर रहा था कि हे भगवान्, मुझ पर दया कर, मुझे क्षमा कर!

मंगलदास उस वक़्त तो अपनी फ़जीहत को पी गया; लेकिन रात को जब अकेला रहा तब उसने वैरागी से कहा कि सब कुकर्म की जड़ तुम हो! बोलो, अब तुम्हारा क्या किया जाय?

वैरागी सचमुच सब दोष अपना ही मान रहा था। उसने कहा कि—आप मुझ पर अब तक दया-भाव ही रखते रहे हैं। अब भी दया करें और मेरी सज़ा का निर्णय आप ही करें। सचमुच दोष मैं अपना मानता हूं कि अब तक भी मेरे कारण सिक्का इस जगत् में बनता और बढ़ता रहा।

मंगलदास ने कहा, "अब तक का क्या मतलब ?"

वैरागी—जब से मुझे मालूम हुआ है, मैंने भगवान् से प्रार्थना की है और मेरा यह अभिशाप प्रभु ने कृपा पूर्वक दूर कर दिया है। अब मुझसे स्वर्ण का सम्बन्ध नहीं रहेगा।"

मंगलदास ने गुस्से में कहा, "क्या ?"

वैरागी ने कहा, "आपको आगे मुझ पर रोष करने के लिए कोई कारण न होगा।"

मंगलदास को बड़ा गुस्सा आ रहा था। उसने हिसाब लगा रखा था कि दो वर्ष के अन्दर वह कम-से-कम आस-पास में तो सबसे बड़ा धनी हो ही जायगा। लेकिन यहां तो अभी मेरी सोने की खान ख़तम हुई जा रही है। उसने गुस्से में भरकर कहा कि वैरागी, तुमको हया-शर्म नहीं है। मैंने कितने दिन तुम्हें साथ रखा। अब आज तुम मुझे इस तरह धोखा देना चाहते हो। तुम्हारा क्या इरादा है ? क्या तुम यहां से चले जाओगे ? याद रखो, मैं तुम्हें नहीं जाने दूंगा !

वैरागी ने कहा, "अब आप क्या आज्ञा देना चाहते हैं कि मुझे क्या करना चाहिए ?"

मंगलदास विद्वान् पंडित भी था। उसने कहा, प्रार्थना करो कि ईश्वर फिर वैसे ही हर क़दम पर तुम्हारे अशर्फ़ी पैदा किया करे। तुम मूर्ख हो और कुछ नहीं जानते हो। अगर तुम मुक्ति चाहते हो तो यह तुम्हारा स्वार्थ है। तुम इतनी जल्द मुक्त हो जाना चाहते हो। देखो, मैं तुम्हें धर्म बताता हूं। अपने से स्वर्ण पैदा होने दो। उस स्वर्ण से दुनिया का काम निकलता है। दुनिया की रगों में उससे तेज़ी आती है। तुमको

स्वर्ण में लगाव नहीं है, बस इतना काफ़ी है। तुम उससे कुछ लगाव न रखो। लेकिन सच्चा धर्मात्मा दूसरे की आत्मा का ठेका नहीं लिया करता है। इसलिए अगर तुम सच्चे धार्मिक हो तो यह ज़िद तुम कभी नहीं रख सकते कि दूसरे आदमी तुम्हारी ही भावना रखें और सोने को लेकर लाभ न उठावें। तुमको यह जानने की आवश्यकता है कि किस प्रकार सृष्टि में स्वर्ण तृष्णा पैदा करता है। तृष्णा में चैतन्य होता है। चैतन्य द्वारा ही ईश्वर की पूजा हो सकती है। जगत् में जो कुछ लहलहाता हुआ दीखता है—स्त्री की सेवा, बालक की क्रीड़ा और बड़ों का वात्सल्य—वह सब उसी अमृत के सिंचन से है। स्वर्ण माता लक्ष्मी का प्रसाद है। बड़े कारोबार चल रहे हैं, सरकारें चल रही हैं, उद्धार चल रहा है, सुधार चल रहा है, जातियां चल रही हैं, धर्म चल रहा है। जानते हो, किस मन्त्र से? लक्ष्मी के स्वर्ण मन्त्र से ही वह सब हो रहा है। देखो वैरागी, समझ से काम लो। तुम्हें कुछ नहीं करना है। तुम भक्ति में रहे जाओ। बाक़ी झंझट में भुगतता रहूंगा।

वैरागी कानों से यह सब सुन रहा था। लेकिन मन के अन्दर वह भगवान् का ही नाम ले रहा था। उसके मन में बराबर उसी नाम का जाप चल रहा था। दूसरी उसे कोई बात समझ न आती थी।

मंगलदास ने अपनी बात ख़तम करते हुए कहा, "सुना तुमने? अब तुम तय कर लो। अगर तुम अपनी बात पर अड़े रहे तो वैसा होगा। तुम ईश्वर के पास जाना चाहते हो न? तो अच्छी बात है। मौत के हाथों देकर मैं यम देवता से कह दूंगा कि इसको ईश्वर के पास ले जाओ और मेरा कहा करोगे तो तुम भक्ति और सुख सब पाओगे। कोई तुम्हें कमी न रहेगी और मुझे माला-माल करने के पुण्य के भी तुम भागी होगे।"

वैरागी सब सुनता हुआ मन में कह रहा था, "हे भगवान्, तुम्हीं हो। पापी भी तुम्हीं में होकर है।"

मंगलदास ने पूछा, "बोलो क्या कहते हो?"

वैरागी मन में कह रहा था—पाप को अपनी क्षमा में सहने वाले हे प्रभु, पापी को अपनी दया में ही रखना। क्योंकि वह नहीं जानता है।

वैरागी को चुप देखकर ज़ोर से मंगलदास ने कहा, "क्यों वैरागी, नहीं सुनते ?"

वैरागी अपनी प्रार्थना में लीन था। वह कह रहा था, "हे मेरे प्रभु, इस पर भी अपनी अनुकंपा रखना; क्योंकि वह अपनी तृष्णा के के कारण अबोध बना हुआ है।"

वैरागी को बराबर ही चुप देखकर मंगलदास को क्रोध चढ़ आया। उठकर उसने एक ज़ोर से उसे थप्पड़ दिया और फिर लात-घूंसों से भी ख़ूब मारा।

अन्त में बोला, "अब तो समझे, ओ वैरागी !"

पर वैरागी तो अपने मन में कह रहा था—प्रभु, सब में तुम्हीं हो। तुम्हीं हो। तुम्हीं हो !

मार के कारण वैरागी को चोट तो आई, पर बहुत नहीं आई। इसमें दोष वैरागी का नहीं था। असल में मंगलदास के मन में समझदारी के कारण कुछ त्रुटि रह गई थी। मंगलदास बुद्धिमान था। उसने सोचा—सोने का अण्डा देने वाली मुर्ग़ी को मारकर कहानी वाले आदमी ने कुछ नहीं पाया था। इसलिए वैरागी को मारकर बे-काम या ख़त्म कर दूंगा तो इससे तो मेरा ही काम बिगड़ेगा। यह मूर्खता मुझे नहीं करनी चाहिए।

अगले सबेरे गांव वाले वहां आये। आये तो उनका और ही रंग-ढंग दिखाई दिया। आते ही जो मुंह पर आया उन्होंने बकना शुरू किया और झोंपड़ी की सब चीज़ें बिखेर डालीं। उस समय वहां बाबा की गद्दी के नीचे से कितनी ही अशर्फ़ियां निकलीं। गांव वालों ने अशर्फ़ियों पर हाथ डालने से पहले उस साधू की मरम्मत बनाई।

उधर वह वैरागी अलग खड़ा होकर ऊपर आसमान में निगाह जमा-कर कह रहा था, "हे भगवन्, हे भगवन् !"

वह प्रार्थना कर रहा था अनेकानेक अनर्थों का मूल यह स्वर्ण कहां मुझमें आ गया ! हे भगवन्, मुझको ऐसा कठोर दंड तुमने क्यों दिया ?

मंगलदास को आगे बढ़कर शिक्षा और दण्ड देने के काम में चन्दन प्रमुख था। चन्दन की सीख में आकर लोगों ने यह भी तय किया था कि जितना सोना उस गुरु के पास से मिलेगा वह सब बेचारे वैरागी को सौंप दिया जाना चाहिए। गांव वाले यह तय करके आये थे। लेकिन जब मंगलदास से निपटकर लोग अशर्फ़ियों के ढेर को सम्मानपूर्वक वैरागी को समर्पण करने के विचार से चले तो क्या देखते हैं कि वहां तो एक भी अशर्फ़ी नहीं है, बल्कि गुलाबी फूलों का एक सरोवर-सा लहलहा रहा है ! वे गुलाबी फूल हृदय के आकार के हैं और मानो मुकुलित होने की बाट देख रहे हैं !

जब गांव वालों ने यह देखा तो उनको अचरज हुआ और वैरागी में उन्हें सच्ची भक्ति हो आई।

पर वैरागी ने कहा, "तुम लोगों ने जिस दोष के लिए उस विचारे साधु को बांधकर डाल दिया है उस दोष का तो अब मूल ही न रह गया इसलिए तुम्हें चाहिए कि अब जाकर तुम उन्हें खोल दो।"

चन्दन ने कहा, "वह आदमी चालाक है, ढोंगी है।"

वैरागी ने कहा, "जिस चीज़ के लिए हम सब चालाक और ढोंगी बनने को तय्यार हो जाते हैं वह चीज़ अब यहां कहां है ? इसलिए वह अब किस वजह से छली या ढोंगी बनेंगे। यों तो हम में से कौन समय पर ढोंग और चालाकी नहीं कर जाता है। जाओ, उसको खोल दो।"

वैरागी के कारण अनमने मन से गांव वाले गये और मंगलदास के बन्धन खोल दिये।

मंगलदास पर इसका बहुत असर हुआ और वह वैरागी के चरणों में गिरकर माफ़ी मांगने लगा।

फिर गांव वालों ने मिलकर अपनी श्रद्धा की मेहनत से वहां पक्के घाट का तालाब तय्यार किया और अनगिनती कमल के फूलों से लाल-लाल वह लाल सरोवर अब भी उस जगह लहरा रहा है।



: ३ :

नई व्यवस्था

बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक के अन्त की ओर आरम्भ होने वाले इस युद्ध ने जगत् की आंखें खोल दीं। जन-संख्या आधी रह गई। स्त्रियों का अनुपात पुरुषों से दुगना बढ़ गया। युद्ध की समाप्ति पर लोक-दक्षों ने सोचा कि ऐसे नहीं चलेगा। जगत् की कुछ नई व्यवस्था करनी होगी। विश्व अब राष्ट्रों में बंटा नहीं होगा। राष्ट्र यदि मूल इकाई रहते हैं तो मिलना न मिलना उन पर निर्भर रहता है। इस तरह जगत् अखंड होने में नहीं आता। अब इस स्थापना से चलना होगा कि विश्व एक है। अत: अब देश नहीं होंगे, विभाग होंगे। सोचा गया कि विभाग चार हों—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम। यही नैसर्गिक है। ये चारों विभाग एक अन्तर्विभागीय संस्था में संयुक्त हों। भूमध्य रेखा के उत्तर में ३३ अंश की देशान्तर रेखा से ऊपर का भाग उत्तर और मकर रेखा से नीचे का भाग दक्षिण ठहराया गया। बीच के अंश में पूर्व-पश्चिम की पहचान के लिए जो अक्षांश रेखा वर्तमान लालसागर के मध्य से जाती है उसको विभाजक रेखा करार दिया गया। अन्तर्विभागीय केन्द्र में तीन सर्वाधिकारी नियंता सदस्य हुए और विभागों के चार अलग-अलग अध्यक्ष नियत हुए।

नीति स्थिर हुई। नक्शे बने और नई व्यवस्था शुरू हुई। चारों विभागीय अध्यक्षों ने तीन केन्द्रीय सदस्यों के साथ मिलकर व्यवस्था सम्बन्धी सब समस्याओं पर विचार किया और यथावश्यक निर्णय किया। अन्त में पूर्व के विभागाध्यक्ष ने कहा, "ईश्वर के बारे में हमारी नीति

और स्पष्ट होनी चाहिए। यह संज्ञा किसके लिए है यह तय हो जाना चाहिए। ईश्वर व्यक्ति नहीं, वस्तु नहीं, वर्ग नहीं, फिर भी सब कहीं इस संज्ञा का प्रवेश है। इससे सुविधा भी होती है और असुविधा भी होती है। इस विषय में विश्व-व्यवस्था की दृष्टि से हमें एक और स्पष्ट नीति बना लेनी चाहिए।"

बात संगत थी। उस पर काफ़ी विवेचन हुआ। प्रतीत हुआ कि ईश्वर नामक संज्ञा सुव्यवस्था में सहायता तो अवश्य देती है। व्यवस्था का सार है बंटवारा, जिसका अर्थ है श्रेणी। श्रेणी में तर-तमता आ ही जाती है। इस कारण किंचित् घट-बढ़पन का भाव आना भी अनिवार्य है। 'ईश्वर' की मदद से इस अनिवार्य विषम भाव का विष निवारण हो जाता है और श्रेणी-विभाजन में एक औचित्य आ जाता है। ईश्वर न हो तो भाग्याधीन भाव व्यक्ति में से नष्ट हो जाय और सबमें परस्पर स्पर्द्धा-बुद्धि जगी रहे। इस तरह व्यक्ति सदा असन्तोष में ही धधकता रहे।

चर्चा में इतिहास की ओर भी दृग्पात हुआ। उस इतिहास पर फैला हुआ दिखाई दिया कि शासन ने सदा देवता की सहायता ली है। वह देवता अधिकांश प्रजा की मान्यता में से ले लिया गया है। विजय या कूटनीति के बल पर राज्य-विस्तार हुआ है तो एकाधिक देवताओं के समुच्चय रूप में नये-नये राज-देवताओं का आविर्भाव हुआ है। क्रांति हुई है तो पुरातन को पदाक्रान्त करके भूल से कोई नया ही देवता गढ़ डाला गया है। इस देवता के मान-पूजा की सरकार ने चिन्ता और व्यवस्था की है। उसके अधिवास का नाम मन्दिर रखा है, जिसका महल से भी अधिक महत्त्व है। एक पूरा विभाग उस देवता की सुरक्षा, सेवा, प्रतिष्ठा और प्रचार के लिए नियुक्त हुआ है। देशों में, जातियों में, अपने देवता को लेकर एकता आई है। जिन्होंने कुछ बदलना चाहा है, यदि समझदार थे तो उन्होंने आरम्भ उस देवता से किया है। नई व्यवस्था यानी नया देवता। एक व्यवस्था यानी एक देवता। सचमुच दुनिया यदि एक है तो यहां ईमान भी एक होना चाहिए। एक देवता, एक पूजा, एक मन्दिर, एक मुद्रा।

लेकिन दूसरा दृष्टिकोण था कि क्या देवता होना ही चाहिए ? देवता सम्प्रदायों में भेद-रक्षा के लिए बने। एक गिरोह ने अपने संगठन के लिए अपना देवता बनाया, पर संगठन दूसरे गिरोह से मोरचा लेने के लिए बनाया। इस तरह देखा जाय तो देवता की वहीं जरूरत है जहां अनेकता हो। दुनिया जब एक है, तब देवता अनावश्यक हैं।

इस भांति बहुत देर तक विवाद रहा और निष्कर्ष पर पहुंचना सम्भव नहीं हुआ।

पूर्व के विभागाध्यक्ष ने कहा, "देवता का प्रश्न ईश्वर से भिन्न है। देवता अनेक हैं, ईश्वर एक है। लड़ने वालों के देवता अलग-अलग होते हैं, पर दोनों एक ईश्वर को मानते हैं। इस तरह लड़ते हुए भी उनके बीच जमीन रहती है, जहां वे सन्धि पर आ सकें।"

इस पर पश्चिमाधिकारी ने कहा—"ठीक यही जमीन है जहां खड़े होकर अपनी लड़ाई को वे धर्म-युद्ध का रूप दे पाते हैं। यह धर्म ही युद्ध को विकराल बनाता है।"

ख़ैर, यह तय हुआ कि तीन व्यक्तियों की एक तत्त्व-समिति बैठाई जाय जो निम्नांकित बिन्दुओं पर अपना मन्तव्य उपस्थित करे :

(१) ईश्वर होना चाहिए कि नहीं ?

(२) यदि हां, तो किस रूप में, किस मात्रा में ?

(३) व्यवस्था और शासन के साथ इस ईश्वर का क्या सम्बन्ध हो ?

(४) ईश्वर केवल मान्यता हो कि संस्था भी हो ?

(५) यदि संस्था हो तो विश्व-व्यवस्था के व्यूह में उसे कहां किस पंक्ति में किस प्रकार हल करके बिठाया जाय ?

समिति को इस शोध के लिए तीन वर्ष का अवकाश मिला।

दुनिया के पास अब लड़ाई नहीं थी। इसलिए एक उत्साहप्रद विषय की आवश्यकता थी। शांति में उत्साह नहीं होता। संघर्ष ही उर्वर है। समिति के सदस्यों ने बैठकर आपस में आरम्भिक बातचीत की तो उसमें गर्मी विशेष नहीं आई। गर्मी तत्त्व में नहीं, राग-द्वेष में है। इसलिए एक

लम्बा प्रश्न-पत्र तय्यार किया गया जो तमाम विद्वानों के पास भेजा जाय। और सब अख़बारों में भी छपे ताकि गर्मा-गर्मी उपजे और विचार प्रबलता के साथ किया जा सके।

लड़ाई के बाद थकान थी और अध्यक्षों के पास रचनात्मक के अतिरिक्त शासन-दमन का विशेष काम न था। यह उनके राजकीय दायित्व के लिए अपर्याप्त था। अब ईश्वर को लेकर सब जगह ख़ासी सरगर्मी दिखाई देने लगी और अध्यक्ष सचेत हो गए।

धीमे-धीमे गर्मी के फलस्वरूप विश्व की अखंडता में दरार हो गई। दक्षिण-पूर्व विभाग का लोक-मत पश्चिमोत्तर विभागों से मिलता नहीं दिखाई देता। क्यों ऐसा होना चाहिए, इसका कारण ऐतिहासिक और भौगोलिक हो तो हो, दूसरा कोई तर्क शुद्ध कारण नहीं है शिक्षा अब एक है मुद्रा एक है, सरकार एक है। फिर भी यदि परिणाम में अंतर है तो उसे अवैध और अनुचित कहना चाहिए। जो हो, प्रस्तुत स्थिति है कि समानता का तल अतल में धंसक गया है और मतभेद ही उभरता चला आ रहा है।

दो वर्ष बीतते-न-बीतते अंतर्विभागीय केन्द्र के सदस्यों को इस समस्या पर विचार करने के लिए एकत्र होना पड़ा। वातावरण क्षुब्ध था। किन्तु देखा गया कि अन्तर उनमें भी वैसा ही बना है। एक की मान्यता है कि ईश्वर को सर्वोपरि सत्ता स्वीकार करके और सब कहीं उसी के नाम पर शासन चलाने के प्रयत्न और आश्वासन से हम विश्व की एकता को कायम और मजबूत रख सकेंगे। दूसरे का कहना है कि ईश्वर-तत्त्व मानव-व्यापार में असंगत है। यदि वह फिर भी लाया जाता है तो अहित-कर है। असमर्थ ईश्वर का नाम ले तो समझ में आ सकता है। उसकी असमर्थता ही उसे सह्य बनाती है। पर सोच-विचार कर ईश्वर को बीच में लाना तो निश्चय ही अपने बीच एक ऐसे अनिष्ट तत्त्व का प्रवेश करना है कि जिसको लेकर बुद्धिपूर्वक हम कोई योजना ही नहीं चला सकते।

दोनों ओर दो ऐसे व्यक्ति थे जिनको मानव-जाति की व्यवस्था का पूरा अनुभव था। उनको केवल सिद्धांतवादी ही नहीं कहा जा सकता था

वे व्यवहार और वर्त्तमान के भी पुरुष थे। उन दोनों में गहरा अंतर देखा गया। विवाद से वह अन्तर और भी प्रशस्त दिखाई दे आया। जान पड़ा दोनों दो तटों पर हैं और अपनी जगह से च्युत होकर कोई एक-दूसरे के पास आने को तय्यार नहीं है तब केन्द्र के तीसरे सदस्य ने कहा कि इस प्रश्न को यहीं बन्द कर देना चाहिए। किन्तु प्रश्न नामक वस्तु बन्द नहीं होती, दबती ही है। और जब प्रश्न स्वयं विवेक के शीर्ष-स्थान पर जा पहुंचा हो तो वह दबे भी तो कहां से और किससे? अतः केन्द्र की बैठक कई दिनों तक चलती रही। अन्त में दो सदस्यों ने त्याग-पत्र दे दिया और तीसरे ने घोषणा की कि केन्द्र भंग हो गया।

अब चारों दिशाओं में चार अध्यक्ष रहे। वही शेष थे, वही सब थे तीन व्यक्तियों की मूल-तत्त्व समिति की वैधानिक स्थिति कुछ न थी। प्रश्न को सुलगा दिया, यह उनका काम काफ़ी था। जो सुलगा था, वह दहक चला। ऐसे समय अध्यक्ष लोक-तन्त्रीय अभ्यास और नीति के कारण परस्पर की व्यक्तिगत मित्रता पर विशेष नहीं अटक सकते थे। पूर्व वर्गपक्ष एक ओर अटल था। वह पक्ष था कि ईश्वर-पूर्वक ही रहा जा सकता है, अन्यथा जीवन वृथा है। ऐसे जीवन का मोह हमें नहीं है। पश्चिम की नास्तिकता प्राण रहते हम नहीं चलने देंगे। इस प्रकार का लोक-मन प्रबलता के साथ पूर्व के पत्रों में हुंकार मारने लगा।

पश्चिम उधर जागृत था। ईश्वर उसे सह्य हो सकता है; लेकिन शासन का अंग और साधन होकर ही। यहीं तक उसकी सार्थकता है। आगे उसे बढ़ने दिया जाय, यह तो अब तक हुई उन्नति से हाथ धो लेना है। वे नहीं जानते जो ईश्वर को मानते हैं। विकास ऐसों के लिए नहीं ठहरेगा। और यदि यही होना है तो भविष्य की ओर दृष्टि रखकर हम एक और रक्त-स्नान के लिए तय्यार हैं। मानव-मेधा के स्वर्णोदय में हमारी निष्ठा है। अन्धकार के युग को अब हम किसी कोने में भी बचा नहीं रहने देंगे। सभ्यता का दीप-स्तम्भ हमारे हाथ है और हम उसके आलोक को लेकर पूर्व की जड़ता और जाड्यता को ध्वस्त करके ही छोड़ेंगे।

ऐसे ही समय वक्तव्यों और विज्ञप्तियों से ज्ञात हुआ कि दिग्विभागों के अध्यक्ष यद्यपि जगत् को अखंड मानते हैं लेकिन अपने खंड की परम्परा और संस्कृति की रक्षा को भी परम कर्त्तव्य मानते हैं। यह भी विदित हुआ कि [पूर्व की दृष्टि में] पूर्व की परम्परा एक और अपूर्व है, और [पश्चिम की दृष्टि में] पश्चिम की परम्परा उतनी ही निजी और अद्वितीय है।

इस अवसर पर दक्षिण भाग के एक पत्र ने याद दिलाई कि अमुक दिन तो लाल सागर की अक्षांश रेखा मानकर पूर्व-पश्चिम की हमने ही सृष्टि की थी। तब क्या स्पष्ट न हो गया था कि पूर्व-पश्चिम नाम की कोई वस्तु नहीं है। फिर यह झगड़ा क्या है? क्या पिछले युद्ध के बाद हम सबने नहीं पहचाना था कि देशों की सीमा-रेखाएं झूठी हैं और उनकी संस्कृतियों की निजता भी तब तक दंभ है जब तक उनको अपनी विशिष्ट संस्कृति का भाव जगत् की निखिलता में आत्मसात् होने की ही प्रेरणा उन्हें नहीं देता। ये चार विभाग उस दिन क्या सब प्रकार की अहंताओं को मिटाकर मात्र व्यवस्था की सुविधा के लिए ही नहीं बनाये गए थे? क्या स्वयं विभागाध्यक्षों को उस घोषणा-पत्र की याद दिलानी होगी जो उन्हीं के हस्ताक्षरों से प्रचारित हुआ था? उसकी स्याही भी नहीं सूखी है और यह हम क्या देखते हैं?

इस तरह की भावना अन्य तीनों विभागों के छुट-पुट पत्रों में भी प्रकट होती देखी गई। पर यह लिखने वाले आदर्शवादी थे। ये विचारक थे, दार्शनिक थे, लेखक थे,। ये यथार्थ से दूर कल्पना में रहने वाले लोग थे। इनकी सुनना स्वप्न पर उड़ना था।

व्यवहार-दलों ने सभा-मंच से कहा कि तीन वर्ष से क्या स्थिति नहीं बदली है? व्यवहार क्षण-क्षण बदलती स्थिति को ध्यान में रखता है। वस्तुजगत् में सीधी रेखा कहां है? कौन कहता है कि दिग्-विभाजन काल्पनिक है? उसका मूल सहस्राब्दियों गहरा और ठोस है। और वे भी भ्रम में हैं जो मानते हैं कि किन्हीं अक्षांश अथवा देशान्तर-रेखाओं को विभाजन-रेखा बनाना किसी कल्पित सिद्धांत पर हुआ था। उसके पीछे वैज्ञानिक

और ठोस शास्त्रीय कारण थे। पूर्व और पश्चिम दो हैं और रहेंगे। लोक-दर्शों ने कहा कि अखण्डता भ्रम है और खण्डन शाश्वत है। उससे डरना नहीं होगा।

इस प्रकार ईश्वर के स्वरूप से चलकर प्रश्न पूर्व और पश्चिम की अर्थात् अपनी-अपनी, विशिष्टता का हो रहा। तब इतिहासों में से अतीत गौरव का पुनराविष्कार हुआ। अपने-अपने विजेता, नेता और पराक्रमी पुरुष काल के गर्भ से निकल कर चेतावनी देते हुए जाग खड़े हुए। पूर्व की महिमा का उदय हुआ और उसके उन्नत भविष्य के चित्रों की अवतारणा हुई। इसी प्रकार पश्चिम को भावी निर्माण के प्रति अपने दायित्व के सम्बन्ध में सचेत होना पड़ा। उसने पहचाना कि वही तो मूर्धन्य है, उसी के हाथ में तो विज्ञान का विद्युत्-प्रकाश है, जो आगे के मार्ग को आलोकित करेगा। पूर्व !—वह सदा से जड़ता का गढ़ रहा है। इस बार आगे बढ़कर उसके कोने-कोने में हम अपना प्रकाश लेकर पहुंचेंगे। भविष्य का सन्देश लेकर हमें आगे बढ़ना होगा। हम मानवता के अग्रदूत हैं।

सारांश, तय्यारियां हो रही हैं और नई व्यवस्था तीन वर्ष में दूसरी नई के लिए जगह करती दीखती है !



: ४ :

तत्सत्

एक गहन वन में दो शिकारी पहुंचे। वे पुराने शिकारी थे। शिकार की टोह में दूर-दूर घूमे थे। लेकिन ऐसा घना जंगल उन्हें नहीं मिला था। देखते जी में दहशत होती थी। वहां एक बड़े बड़ के पेड़ की छांह में उन्होंने वास किया और आपस में बातें करने लगे।

एक ने कहा, "ओह, कैसा भयानक जंगल है।"

दूसरे ने कहा, "और कितना घना!"

इसी तरह कुछ देर बात करके और विश्राम करके वे शिकारी आगे बढ़ गए।

उनके चले जाने पर पास के सीसम के पेड़ ने बड़ से कहा—बड़ दादा, अभी तुम्हारी छांह में ये कौन थे? वे गए?

बड़ ने कहा, "हां, गये। तुम उन्हें नहीं जानते हो?"

सीसम ने कहा, "नहीं, वे बड़े अजब मालूम होते थे। कौन थे, दादा?"

दादा ने कहा, "जब छोटा था तब इन्हें देखा था। इन्हें आदमी कहते हैं इनमें पत्ते नहीं होते, तना-ही-तना होता है। देखा, वे चलते कैसे हैं? अपने तने की दो शाखों पर ही चलते चले जाते हैं!"

सीसम—ये लोग इतने ही ओछे रहते हैं, ऊंचे नहीं उठते, क्यों दादा?

बड़ दादा ने कहा, "हमारी तुम्हारी तरह इनमें जड़ें नहीं होतीं।

बढ़ें तो काहे पर ? इससे वे इधर-उधर चलते रहते हैं, ऊपर की ओर बढ़ना उन्हें नहीं आता। बिना जड़ न जाने वे जीते किस तरह हैं।"

इतने में बबूल, जिसमें हवा साफ छुनकर निकल जाती थी, रुकती नहीं थी और जिसके तन पर कांटे थे, बोला—दादा, ओ दादा, तुमने बहुत दिन देखे हैं। यह बताओ कि किसी वन को भी कभी देखा है। ये आदमी किसी भयानक वन की बात कर रहे थे। तुमने उस भयावने वन को देखा है ?

सीसम ने कहा, "दादा, हां, सुना तो मैंने भी था। वह वन क्या होता है ?"

बड़ दादा ने कहा, "सच पूछो तो भाई, इतनी उमर हुई, उस भयावने वन को तो मैंने भी नहीं देखा। सभी जानवर मैंने देखे हैं। शेर, चीता, भालू, हाथी, भेड़िया। पर वन नाम के जानवर को मैंने अब तक नहीं देखा।"

एक ने कहा, "मालूम होता है वह शेर चीतों से भी डरावना होता है।"

दादा ने कहा, "डरावना जाने तुम किसे कहते हो। हमारी तो सबसे प्रीति है।"

बबूल ने कहा, "दादा, प्रीति की बात नहीं है। मैं तो अपने पास कांटे रखता हूं। पर वे आदमी वन को भयावना बताते थे। जरूर वह शेर चीतों से बढ़कर होता होगा।"

दादा—सो तो होता ही होगा। आदमी एक टूटी-सी टहनी से आग की लपट छोड़कर शेर-चीतों को मार देता है। उन्हें ऐसे मरते अपने सामने हमने देखा है। पर वन की लाश हमने नहीं देखी। वह जरूर कोई बड़ा खौफ़नाक होगा।

इसी तरह उनमें बातें होने लगीं। वन को उनमें से कोई नहीं जानता था। आस-पास के और पेड़ साल, सेंमर, सिरस उस बातचीत में हिस्सा लेने लगे। वन को कोई मानना नहीं चाहता था। किसी को उसका कुछ

पता नहीं था। पर अज्ञात भाव से उसका डर सबको था। इतने में पास ही जो बांस खड़ा था और जो ज़रा हवा पर खड़-खड़ सन्-सन् करने लगता था, उसने अपनी जगह से ही सीटी-सी आवाज देकर कहा—मुझे बताओ, मुझे बताओ क्या बात है। मैं पोला हूं। मैं बहुत जानता हूं।

बड़दादा ने गंभीर वाणी से कहा—तुम तीखा बोलते हो। बात है कि बताओ तुमने वन देखा है? हम लोग सब उसको जानना चाहते हैं।

बांस ने रीती आवाज से कहा, "मालूम होता है हवा मेरे भीतर के रिक्त में वन-वन-वन-वन ही कहती हुई घूमती रहती है। पर ठहरती नहीं। हर घड़ी सुनता हूं,वन है। पर मैं उसे जानता नहीं हूं। क्या वह किसी को दीखा है।"

बड़ दादा ने कहा, "बिना जाने फिर तुम इतना तेज क्यों बोलते हो? बांस ने सन्-सन् की ध्वनि में कहा—मेरे अंदर हवा इधर-से-उधर बहती रहती है। मैं खोखला जो हूं। मैं बोलता नहीं, बजता हूं। वही मुझमें से बोलती है।"

बड़ ने कहा, "वंश बाबू, तुम घने नहीं हो, सीधे-ही-सीधे हो। कुछ भरे होते तो झुकना जानते। लंबाई में सब कुछ नहीं है।"

वंश बाबू ने तीव्रता से खड़-खड़ सन्-सन् किया कि ऐसा अपमान वह नहीं सहेंगे। देखो वह कितने ऊंचे हैं!

बड़ दादा ने उधर से आंख हटाकर फिर और लोगों से कहा कि हम सबको घास से इस विषय में पूछना चाहिए। उसकी पहुंच सब कहीं है। वह कितनी व्याप्त है। और ऐसी बिछी रहती है कि किसी को उससे शिकायत नहीं होती।

तब सबने घास से पूछा, "घास री घास, तू वन को जानती है?"

घास ने कहा, "नहीं तो दादा, मैं उन्हें नहीं जानती। लोगों की जड़ों को ही मैं जानती हूं। उनके फल मुझसे ऊंचे रहते हैं। पदतल के स्पर्श से सबका परिचय मुझे मिलता है। जब मेरे सिर पर चोट ज्यादा पड़ती है, समझती हूं यह ताकत का प्रमाण है। धीमे कदम से मालूम होता है यह

कोई दुखियारा जा रहा है। दुःख से मेरी बहुत बनती है, दादा ! मैं उसी को चाहती हुई यहां से वहां तक बिछी रहती हूं। सभी कुछ मेरे ऊपर से निकलता है। पर वन को मैंने अलग करके कभी नहीं पहचाना।"

दादा ने कहा, "तो तुम कुछ नहीं बतला सकतीं?"

घास ने कहा, "मैं बेचारी क्या बतला सकती हूं, दादा !"

तब बड़ी कठिनाई हुई। बुद्धिमती घास ने जवाब दे दिया। वाग्मी वंश बाबू भी कुछ न बता सके। और बड़ दादा स्वयं अत्यंत जिज्ञासु थे। किसी की समझ में नहीं आया कि वन नाम के भयानक जंतु को कहां से कैसे जाना जाय।

इतने में पशुराज सिंह वहां आये। पैने दांत थे, बालों से गर्दन शोभित थी, पूंछ उठी थी। धीमी गर्वीली गति से वह वहां आये और किलक-किलक कर बहते जाते हुए निकट के एक चश्मे में से पानी पीने लगे।

बड़ दादा ने पुकार कर कहा, "ओ सिंह भाई, तुम बड़े पराक्रमी हो। जाने कहां-कहां छापा मारते हो। एक बात तो बताओ, भाई !"

शेर ने पानी पीकर गर्व से ऊपर को देखा। दहाड़ कर कहा—कहो क्या कहते हो?

बड़दादा ने कहा, "हमने सुना है कि कोई वन होता है जो यहां आस-पास है और बड़ा भयानक है। हम तो समझते थे कि तुम सबको जीत चुके हो। उस वन से कभी तुम्हारा मुकाबिला हुआ है? बताओ वह कैसा होता है?"

शेर ने दहाड़ कर कहा, "लाओ सामने वह वन, जो अभी मैं उसे फाड़ चीर कर न रख दूं। मेरे सामने वह भला क्या हो सकता है?"

बड़दादा ने कहा, "तो वन से कभी तुम्हारा सामना नहीं हुआ?"

शेर ने कहा, "सामना होता तो क्या वह जीता बच सकता था। मैं अभी दहाड़ देता हूं। हो अगर कोई वन, तो आये वह सामने। खुली चुनौती है। या वह है, या मैं हूं।"

ऐसा कहकर उस वीर सिंह ने वह तुमुल घोर गर्जन किया कि दिशाएं

कांपने लगीं। बड़ दादा के देह के पत्र खड़-खड़ करने लगे। उनके शरीर के कोटर में वास करते हुए शावक चीं-चीं कर उठे। चहुंओर जैसे आतंक भर गया। पर वह गर्जना गूंजकर रह गई, हुंकार का उत्तर कोई नहीं आया।

सिंह ने उस समय गर्व से कहा, "तुमने यह कैसे जाना कि कोई वन है और वह आस-पास रहता है। जब मैं हूं, आप सब निर्भय रहिए कि वन कोई नहीं है, कहीं नहीं है। मैं हूं, तब किसी और का खटका आपको नहीं रखना चाहिए।"

बड़ दादा ने कहा, "आपकी बात सही है। मुझे यहां सदियां हो गई हैं। वन होता तो दीखता अवश्य। फिर आप हो, तब कोई और क्या होगा। पर वे दो शाख पर चलनेवाले जीव जो आदमी होते हैं, वे ही यहां मेरी छांह में बैठकर उस वन की बात कर रहे थे। ऐसा मालूम होता है कि ये बे-जड़ के आदमी हमसे ज्यादा जानते हैं।"

सिंह ने कहा, "आदमी को मैं खूब जानता हूं। मैं उसे खाना पसंद करता हूं। उसका मांस मुलायम होता है; लेकिन वह चालाक जीव है। उसको मुंह मारकर खा डालो तब तो वह अच्छा है, नहीं तो उसका भरोसा नहीं करना चाहिए। उसकी बात-बात में धोखा है।"

बड़ दादा तो चुप रहे, लेकिन औरों ने कहा कि सिंहराज, तुम्हारे भय से बहुत-से जंतु छिपकर रहते हैं। वे मुंह नहीं दिखाते। वन भी शायद छिपकर रहता हो। तुम्हारा दबदबा कोई कम तो नहीं है। इससे जो सांप धरती में मुंह गाड़कर रहता है, ऐसे भेद की बातें उससे पूछनी चाहिए। रहस्य कोई जानता होगा तो अंधेरे में मुंह गाड़कर रहने वाला सांप जैसा जानवर ही जानता होगा। हम पेड़ तो उजाले में सिर उठाये खड़े रहते हैं। इसलिए हम बेचारे क्या जानें।

शेर ने कहा कि जो मैं कहता हूं वही सच है। उसमें शक करने की हिम्मत ठीक नहीं है। जब तक मैं हूं, कोई डर न करो। कैसा सांप और कैसा कुछ और। क्या कोई मुझसे ज्यादा जानता है?

बड़ दादा यह सुनते हुए अपनी डाढ़ी की जटाएं नीचे लटकाए चुप

बैठे रह गए, कुछ नहीं बोले। औरों ने भी कुछ नहीं कहा। बबूल के कांटे जरूर उस वक्त तनकर कुछ उठ आये थे। लेकिन फिर भी बबूल ने धीरज नहीं छोड़ा और मुंह नहीं खोला।

अंत में जम्हाई लेकर मंथर गति से सिंह वहां से चले गए।

भाग्य की बात कि सांझ का झुटपुटा होते-होते चुप-चाप घास में से जाते हुए दीख गये चमकीली देह के नागराज। बबूल की निगाह तीखी थी। झट से बोला, "दादा ! ओ बड़ दादा; वह जा रहे हैं सर्पराज। ज्ञानी जीव हैं। मेरा तो मुंह उनके सामने कैसे खुल सकता है। आप पूछो तो जरा कि वन का ठौर-ठिकाना क्या उन्होंने देखा है।

बड़ दादा शाम से ही मौन हो रहते हैं। यह उनकी पुरानी आदत है। बोले, "संध्या आ रही है। इस समय वाचालता नहीं चाहिए।"

बबूल झक्की ठहरे। बोले, "बड़ दादा, सांप धरती से इतना चिपट-कर रहते हैं कि सौभाग्य से हमारी आखें उन पर पड़ती हैं। और यह सर्प अतिशय श्याम हैं, इससे उतने ही ज्ञानी होंगे। वर्ण देखिए न, कैसा चमकता है। अवसर खोना नहीं चाहिए। इनसे कुछ रहस्य पा लेना चाहिए।"

बड़ दादा ने तब गंभीर वाणी से सांप को रोककर पूछा कि हे नाग, हमें बताओ कि वन का वास कहां है और वह स्वयं क्या है ?

सांप ने साश्चर्य कहा, "किसका वास ? वन कौन जंतु है ? और उसका वास पाताल तक तो कहीं है नहीं।"

बड़ दादा ने कहा कि हम कोई उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। तुमसे जानने की आशा रखते हैं। जहां जरा छिद्र हो वहां तुम्हारा प्रवेश है। कोई टेढ़ा-मेढ़ापन तुमसे बाहर नहीं है, इससे तुमसे पूछा है।

सांप ने कहा, "मैं धरती के सारे गर्त जानता हूं। भीतर दूर तक पैठकर उसी के अंतर्भेद को पहचानने में लगा रहता हूं। वहां ज्ञान की खान है। तुमको अब क्या बताऊं। तुम नहीं समझोगे। तुम्हारा वन, लेकिन कोई गहराई की सचाई नहीं जान पड़ती। वह कोई बनावटी सतह की चीज़ है। मेरा वैसी ऊपरी और उथली बातों से वास्ता नहीं रहता।"

बड़ दादा ने कहना चाहा कि तो वन—

सांप ने कहा, "वह फर्जी है। यह कहकर वह आगे बढ़ गये।"

मतलब यह कि सब जीव-जंतु और पेड़-पौधे आपस में मिले और पूछ-ताछ करने लगे कि वन को कौन जानता है और वह कहां है, क्या है ? उनमें सबको ही अपना-अपना ज्ञान था। अज्ञानी कोई नहीं था। पर उस वन का जानकार कोई नहीं था। एक नहीं जाने, दो नहीं जानें, दस-बीस, नहीं जानें। लेकिन जिसको कोई भी नहीं जानता ऐसी भी भला कोई चीज़ कभी हुई है या हो सकती है ? इसलिए उन जंगली जंतुओं में और वनस्पतियों में खूब चर्चा हुई, खूब चर्चा हुई। दूर-दूर तक उसकी तू-तू-मैं-मैं सुनाई देती थी। ऐसी चर्चा हुई, ऐसी चर्चा हुई कि विद्याओं-पर-विद्याएं उसमें से प्रस्तुत हो गईं। अंत में तय पाया कि दो टांगों वाला आदमी ईमानदार जीव नहीं है। उसने तभी वन की बात बनाकर कह दी है। वह बन गया है। सच में वह नहीं है।

उस निश्चय के समय बड़ दादा ने कहा कि भाइयो, उन आदमियों को फिर आने दो। इस बार साफ-साफ उनसे पूछना है कि बताएं वन क्या है। तो बताएं, नहीं तो ख्वाहम-ख़्वाह झूठ बोलना छोड़ दें। लेकिन उनसे पूछने से पहले उस वन से दुश्मनी ठानना हमारे लिए ठीक नहीं है। वह भयावना सुनते हैं। जाने वह और क्या हो ?

लेकिन बड़ दादा की वहां विशेष चली नहीं। जवानों ने कहा कि ये बूढ़े हैं, उनके मन में तो डर बैठा है। और जंगल के न होने का फैसला पास हो गया।

एक रोज आफ़त के मारे फिर वे शिकारी उस जगह आये। उनका आना था कि जंगल जाग उठा। बहुत-से जीव-जंतु, झाड़ी-पेड़ तरह-तरह की बोली बोलकर अपना विरोध दरशाने लगे। वे मानो उन आदमियों की भर्त्सना कर रहे थे। आदमी विचारों को अपनी जान का संकट मालूम होने लगा। उन्होंने अपनी बन्दूकें संभाली। इस टूटी-सी टहनी को, जो आग उगलती है, बड़ दादा पहचानते थे। उन्होंने बीच में पड़कर कहा कि 'अरे,

तुम लोग अधीर क्यों होते हो। इन आदमियों के खतम हो जाने से हमारा और तुम्हारा फैसला निर्भ्रम नहीं कहलायगा। जरा तो ठहरो। गुस्से से कहीं ज्ञान हासिल होता है। ठहरो, इन आदमियों से उस सवाल पर मैं ख़ुद निपटारा किये लेता हूं।" यह कहकर बड़दादा आदमियों को मुखातिब करके बोले, "भाई आदमियो, तुम भी इन पोली चीजों का नीचा मुंह करके रखो जिनमें तुम आग भरकर लाते हो। डरो मत। अब यह बताओ कि वह जंगल क्या है जिसकी तुम बात किया करते हो? बताओ वह कहां है।

आदमियों ने अभय पाकर अपनी बन्दूकें नीची कर लीं और कहा—यह जंगल ही तो है जहां हम सब हैं।

उनका इतना कहना था कि चींचीं-कींकीं सवाल-पर-सवाल होने लगे।

'जंगल यहां कहां है? कहीं नहीं है।'

'तुम हो। मैं हूं। यह है। वह है। जंगल फिर हो कहां सकता है।'

'तुम झूठे हो।'

'धोखेबाज!'

'स्वार्थी!'

'ख़तम करो इनको।'

आदमी यह देखकर डर आये। बन्दूकें संभालना चाहते थे कि बड़दादा ने मामला संभाला और पूछा—सुनो आदमियो, तुम झूठे साबित होगे तभी तुम्हें मारा जायगा। क्या यह आग-फेंकनी लिये फिरते हो। तुम्हारी बोटी का पता न मिलेगा। और अगर झूठे नहीं हो, तो बताओ, जंगल कहां है?

उन दोनों आदमियों में से प्रमुख ने विस्मय से और भय से कहा, हम सब जहां हैं वहीं तो जंगल है।"

बबूल ने अपने कांटे खड़े करके कहा, "बको मत, वह सेमर है, वह सिरस है, साल है, यह घास है। वह हमारे सिंहराज हैं। वह पानी है।

यह धरती है। तुम जिनकी छांह में हो वह हमारे बड़ दादा हैं। तब तुम्हारा जंगल कहां है, दिखाते क्यों नहीं ? तुम हमको धोखा नहीं दे सकते।

प्रमुख पुरुष ने कहा, "यह सब कुछ ही जंगल है।"

इस पर गुस्से में भरे हुए कई वनचरों ने कहा, "बात से बचो नहीं। ठीक बताओ, नहीं तो तुम्हारी ख़ैर नहीं हैं।"

अब आदमी क्या कहें परिस्थिति देखकर वे बेचारे जान से निराश होने लगे। अपनी मानवी बोली में (अब तक प्राकृतिक बोली में बोल रहे थे) एक ने कहा—यार, कह क्यों नहीं देते कि जंगल नहीं है। देखते नहीं, किनसे पाला पड़ा है !

दूसरे ने कहा, "मुझसे तो कहा नहीं जायगा।"

"तो क्या मरोगे ?"

"सदा कौन जिया है। इससे इन भोले प्राणियों को भुलावे में कैसे रखूं।"

यह कहकर प्रमुख पुरुष ने उन सबसे कहा—भाइयो, जंगल कहीं दूर या बाहर नहीं है। आप लोग सभी वह हो।

इस पर फिर गोलियों से सवालों की बौछार उन पर पड़ने लगी।

'क्या कहा ? मैं जंगल हूं ? तब बबूल-कौन है ?'

'झूठ ! क्या मैं यह मानूं कि मैं बांस नहीं जंगल हूं। मेरा रोम-रोम कहता है, मैं बांस हूं।'

'और मैं घास ?'

'और मैं शेर।'

'और मैं सांप।'

इस भांति ऐसा शोर मचा कि उन बेचारे आदमियों की अकल गुम होने को आ गई। बड़ दादा न हों तो आदमियों का काम वहां तमाम था।

उस समय आदमी और बड़ दादा में कुछ ऐसी धीमी-धीमी बातचीत हुई कि वह कोई सुन नहीं सका। बातचीत के बाद वह पुरुष उस विशाल बड़ के वृक्ष के ऊपर चढ़ता दिखाई दिया। चढ़ते-चढ़ते वह उसकी सबसे

ऊपर की फुनगी तक पहुंच गया। वहां दो नये-नये पत्तों की जोड़ी खुले आसमान की तरफ मुस्कराती हुई देख रही थी। आदमी ने उन दोनों को बड़े प्रेम से पुचकारा। पुचकारते समय ऐसा मालूम हुआ जैसा मंत्र-रूप में उन्हें कुछ संदेश भी दिया है।

वन के प्राणी यह सब कुछ स्तब्ध भाव से हुए देख रहे थे। उन्हें कुछ समझ में न आ रहा था।

देखते-देखते पत्तों की वह जोड़ी उद्ग्रीव हुई। मानो उनमें चैतन्य भर आया। उन्होंने अपने आस-पास और नीचे देखा। जाने उन्हें क्या दिखा, कि वे कांपने लगे। उनके तन में लालिमा व्याप गई कुछ क्षण बाद मानो वे एक चमक से चमक आये। जैसे उन्होंने खंड को कुल में देख लिया। देख लिया कि कुल है, खंड कहां है।

वह आदमी अब नीचे उतर आया था और अन्य वनचरों के समकक्ष खड़ा था। बड़ दादा ऐसे स्थिर-शांत थे मानो योगमग्न हों कि सहसा उनकी समाधि टूटी। वे जागे। मानो उन्हें अपने चरमशीर्ष से, अभ्यंतराभ्यंतर में से, तभी कोई अनुभूति प्राप्त हुई हो।

उस समय सब ओर सप्रश्न मौन व्याप्त था। उसे भंग करते हुए बड़ दादा ने कहा—

"वह है।"

कहकर वह चुप हो गए। साथियों ने दादा को संबोधित करते हुए कहा—दादा, दादा!........

दादा ने इतना ही कहा,

"वह है, वह है।"

"कहां है? कहां है?"

"सब कहीं है। सब कहीं है।"

"और हम?"

"हम नहीं, वह है।"



: ५ :

धरमपुर का वासी

धरमपुर एक गांव था। वहां करमसिंह नाम का एक किसान रहता था। उमर चौथेपन पर आ लगी तो उसने अपने बेटे अजीत को बुलाकर कहा, "देखो भाई अजीत, अब हम तीर्थ-यात्रा पर जायंगे। संसार किया, समय है कि अब भगवान् की सोचें। तुम दोनों जने मेहनती हो, जमीन अच्छी है और मालिक भी नेक है। किसी बुराई में न रहो तो भगवान् का नाम लेते हुए अच्छी तरह दिन बिता सकते हो। इसलिए मुझे अब जाने दो।"

करमसिंह दो बरस से इस दिन की राह देख रहा था। अजीत की माँ उठी तभी से उसका यहां चित्त नहीं है। अब अजीत का विवाह भी कर चुका है। और बहू भी हाथ बटाने वाली आई है। इस तरह सब तरफ से निश्चिन्त होकर करमसिंह तीर्थ-यात्रा पर चल दिया। कहा, "अजीत, हमारी भारत-भूमि में तीर्थ-धाम अनेक हैं। इससे मैं कब लौट सकूंगा, इसका ठिकाना नहीं। तुम बहुत आस में मत रहना।"

पूर्व-पश्चिम, दक्षिण-उत्तर के अनेक तीर्थों के उसने कार्य किये। इसमें कई वर्ष लग गए। अनन्तर घूमता-घामता वह वापस धरमपुर पहुंचा। पर अपने धरमपुर को अब वह पहचान नहीं सका। आंखें फाड़-फाड़ कर वह इधर-उधर देखने लगा। दूर-दूर तक खेत नहीं थे और धरती कोयले की राख से काली थी। उसने अपनी झोपड़ी देखनी चाही और वह बगिया देखनी चाही जहां आम-अमरूद के दो-चार पेड़ लगा रखे थे। पर वह किसी तरह अन्दाज नहीं कर सका कि यहां उसकी जगह कहां रही। होगी

कई बार इस पक्की सड़क और पक्के मकान की नगरी का चक्कर उसने काटा। अन्त में जहां उसने अपनी जगह होने का निश्चय किया, वहां देखता है कि लाल-लाल जलती हुई एक भट्टी मौजूद है। आस-पास कोयले वाले जमा हैं और आग मद्धिम होती है तो उसमें कोयले डालते जाते हैं। वे भट्टी को बार-बार धधकाये रहते हैं। तो क्या इस भट्टी में ही हमारी झोंपड़ी भी स्वाहा हुई है। उसने पूछा, "क्यों भई, यहां अजीत और उसकी बहू रहते थे, वे कहां है ?"

लोग तेजी से कुछ कर रहे थे, जिसको करमसिंह नहीं समझ सका कि क्या कर रहे हैं। उन्होंने उसकी बात की तरफ ध्यान नहीं दिया। गांव के सब लोगों को वह जानता था। लेकिन उनमें से यहां एक भी दिखाई नहीं देता था। कुछ देर बाद देखता क्या है कि महदेवा मौजूद है। उसने उधर ही बढ़कर कहा, "महदेवा, कहो भाई अच्छे तो हो ?"

महदेवा की देह से पसीना निकल रहा था। आंखों को बार-बार मलता और सुखाता वह हांफ रहा था। वह बहुत काम में था। करमसिंह ने बिल्कुल पास पहुंचकर पुकारा तब उसे चेत हुआ। महदेवा ने पीछे मुड़कर देखा, कहा—"क्या है ?"

करमसिंह ने कहा, "मुझे पहचानते नहीं हो, महदेवा ?"

महदेवा ने ध्यान किया और बोला, "अरे कका ! कहो, कब आये ?"

करमसिंह ने कहा, "आ ही रहा हूं। पर अजीत और उसकी बहुरिया कहां हैं ?"

महदेवा ने कहा, "साल-भर हुआ तब वे दूसरे कारखाने में थे। अब तो हमें भी पता नहीं है।"

"कारखाने में !" दोहराता हुआ करमसिंह चुप रह गया।

उसके जमाने में इधर-उधर भटकते मवेशी जिसमें बन्द किये जाते थे, उसे कांजी-खाना कहते थे। कारखाना कुछ वैसी ही कोई बात न हो। लेकिन, नहीं उसने हिम्मत से सोचा कि किसी रहने की जगह का नाम होता होगा। अन्त में उसने पूछा—"कारखाना क्या भाई ?"

महदेवा ने अचरज में पड़कर कहा, "अजी, कारखाना ! वह कारखाना ही तो होता है। वहां बहुत आदमी काम करते हैं। अच्छा कक्का, अब संझा को मिलेंगे। मालिक पूरा तोल के काम रखवा लेता है।

करमसिंह वहां से आगया। गांव की काया-पलट हो गई थी। जगह-जगह ऊंची-ऊंची सुरियां-सी खड़ी थीं जिनमें से धुआं निकल रहा था। तो क्या वे पोली हैं ? और पोली हैं तो इसलिए कि पेट में काला धुआं भरे रहें ? यहां सबसे ऊंची चीज उसे इन्हीं धुआं फेंकने वाली सुरियों की दिखाई दीं। पहले एक मन्दिर था जिसका कलश बहुत ऊंचा दीखता था। कोई कोस-भर से दीख जाता होगा। अब इन सुरियों के आगे किसी मन्दिर के कलश की बिसात नहीं है। अव्वल तो मन्दिर वैसे ही कोने कुचारे में हो गये हैं। उसने पूछा, "क्यों भाई, ये ऊंची-ऊंची सुरियां क्या हैं ?"

बताने वाले ने बताया, "ये कारखाने हैं।"

उसने कहा, "कारखाने तो होंगे। पर ये लम्बी गर्दनें, जो धुआं उगलती हैं, ये क्या हैं ? यही कारखाने हैं ? इनमें आदमी—"

धीरज धरकर राहगीर ने उत्तर दिया, "ये उन्हीं कारखानों की चिमनियां हैं।"

करमसिंह सुनता रह गया। उसकी समझ में कुछ नहीं आया। उसने कहा, "कारखानों में सुनते हैं आदमी होते हैं। चिमनियां क्या उन्हीं का धुआं बनाती हैं ?"

उसकी बात सुनकर राहगीर का धीरज टूट गया और वह अपनी राह सीधा हो लिया।

करमसिंह बहुत विचार में पड़ गया। पहले तो कारखाने होते हैं जिनमें बहुत-से आदमी काम करते हैं। फिर उनकी चिमनियां होती हैं, गरदन बहुत ऊंची जिनकी होती है और जो अन्दर आदमियों को लेकर मुंह से धुआं निकालती हैं। ऐसा ही चिमनीदार कोई कारखाना होगा जिसमें अजीत काम करता होगा। लेकिन काम तो मैं गया तब भी उसे

घर पर करने को बहुत था। खेत थे, बैल थे, गऊ थी और सेवा के लिए हारी-बीमारी में पास-पड़ोसी लोग थे। वह काम फिर क्या था जो अजीत कारखाने में करने गया? उसकी अकल काम नहीं दे रही थी। अपनी झोंपड़ी की जगह लाल-लाल धधकती हुई भट्टी की उसे याद आती थी। झोंपड़ी में हम रहते थे। इस भट्टी के ऊपर कौन रहता होगा? जरूर उस भट्टी के होने में किसी का कुछ मतलब तो होगा। पर वह मतलब उसकी समझ में कुछ नहीं आता था।

वह जिस-तिस से पूछने लगा, "भाई ये कारखाने और ये भट्टियां और ये चिमनियां यहां कौन ले आया है और किसलिए लाया है?"

शहर में अब जनरल काम के लोग भी हुआ करते हैं। वे कोई ख़ास काम के नहीं होते। वे बे-मेहनत रहते हैं। इसलिए वे मजे से रहते हैं। एक ऐसे ही बन्धु आ रहे थे। उन्हें नई बात की टोह रहती है इस नई तरह के प्राणी को देखकर उनमें चैतन्य जागृत हुआ। पुराने ग्रन्थ, चित्र, मूर्ति और इसी तरह की अन्य वस्तुओं का वे पता रखते हैं और यदा-कदा सौदा भी करते हैं। इस कारण वे विद्वान् भी हैं। उन्होंने कहा, "तुम पुरातन काल के अधिवास प्रतीत होते हो। आओ, मेरे साथ चलो।"

करमसिंह ने कहा, "हां, मैं यहीं रहा करता था।"

धीमान् ने पूछा, "यहीं कहां?"

"इसी धरमपुर में।"

"धरमपुर! ओ, तुम्हारा मतलब इसी दामपुर से है। तो प्राचीनकाल में धरमपुर भी यही था।—"

बन्धु ने यह बात नोटबुक निकाल कर नोट की।

करमसिंह ने आश्चर्य से कहा,—"दामपुर! धरम की जगह दाम कैसे आगया?"

उन धीमान् बन्धु ने करुणा भाव से कहा,—"तुम अधिक रहे हो। इससे कम जानते हो। धर्म की जगह कहां है? सब कहीं दाम ही तो है। ठहरो नहीं, आओ।"

करमसिंह खोया-सा होकर उन कुशल बन्धु के साथ-साथ बढ़ लिया। वहां पहुंचकर उसे आदर मिला और भोजन भी मिला। अनन्तर पेंसिल और डायरी साथ लेकर वह विद्वान् इस प्राचीन युग के प्राणी से जानकारी प्राप्त करने लगे। देश-विदेश के पत्रों में इस सम्बन्ध में उन्हें एक लेख लिखना था। मौलिक पुरातत्व गवेषणात्मक लेखों की आजकल न्यूनता है। उन्होंने चर्चा से पूर्व करमसिंह को उठाकर, बिठाकर, एक ओर से, सामने की ओर, पीठ की ओर आदि-आदि कई ओरों से चित्र लिये। क्योंकि विद्वानों के लेख काल्पनिक नहीं सप्रमाण होते हैं।

करमसिंह ने अपनी ओर से पूछा, "कारखाने मैंने सुने हैं। दूर से उनकी धुएं वाली चिमनियां देखी हैं और अपनी झोंपड़ी की जगह पर दहकती भट्टी पहचान आया हूं। यह सब क्या है? और क्यों है?"

विद्वान् ने पहले प्रश्नकर्ता की भाव-भंगिमा और फिर प्रश्न को कापी में दर्ज किया, फिर कहा, "तुम क्या समझते हो"

करमसिंह ने कहा, "शास्त्रों में मय दानव के मायापुरी रचने की बात है। मुझे तो कुछ वैसा ही-सा मालूम होता है।"

विद्वान् उत्तर से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने तत्काल इसे नोट किया। फिर हंसकर कहा, "यह इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन है।"

करमसिंह सुनकर हैरानी में देखता रह गया। सोचता था कि उसे बताया जायगा कि वह इतने बड़े नाम की वस्तु क्या है? किन्तु विद्वान् उसके हतबुद्धि होने में रस ले रहे थे और बीच-बीच में उसकी आकृति का वर्णन नोट करते जा रहे थे। अन्त में उसने पूछा कि वह जटिल और वक्र नामधारी वस्तु क्या है?

विद्वान् ने हंसकर कहा, "वह मय दानव नहीं है। दानव कल्पना शरीर है। हमारे एंजिन का शरीर लोहे का है।"

करमसिंह ने हर्ष से कहा, "एंजिन, यह तो अपने देवताओं का-सा नाम प्रतीत होता है। भट्टी कहीं उसी का पेट तो नहीं है। वह क्या खाता है।"

विद्वान् ने हंसकर कहा, "वह कोयले की आग खाता है और कालिमा छोड़ता है।"

करमसिंह को इस वर्णन में बहुत दिलचस्पी हुई। उसने कहा, "वह एंजिन बहुत शक्ति वाला होता है ?"

विद्वान् प्रसन्न थे, क्योंकि पुरातन वय का अबोध बालक उनके सामने था। यह सब उसे परियों की कहानियों के समान था। बोले, "आदमी नाज खाता है, फल खाता है, फिर भी उसमें थोड़ी शक्ति होती है। घोड़े को दाना देते हैं और उसमें दस आदमियों जितनी शक्ति है ! एंजिन कोयला खाकर बीसियों हार्स पावर से भी ताकतवर होता है।"

"हार्स पावर ?"

कुछ अधीरता, फिर भी प्रसन्नता से विद्वान् ने कहा, "तुम पुरातन हो, इससे नहीं जानते। हार्स—घोड़ा पावर—शक्ति लाखों हार्स पावर के एंजिन दिन-रात चल रहे हैं। यह चारों तरफ नहीं देखते ? अनगिनत हार्स-पावर के जोर से हमने यह इंडस्ट्रियल रिवोल्यूशन किया है।"

करमसिंह ने कहा, "और आदमी ? उसकी शक्ति ?"

विद्वान् बोला, "आदमी नगण्य हैं। एक एंजिन पांच सौ आदमियों के बराबर है। तब फिर आदमी क्या रह जाता है ? जिसके बस दो हाथ हैं, वह अंक से भी कम है। जिसके ये हैं, "वही यहां टिक सकता है।" कहते हुए दाहिने हाथ की तर्जनी से विद्वान् ने अपना मस्तक बताया।

करमसिंह घबराकर बोला, "भगवान् के दिये दो हाथ और उनका श्रम कुछ भी नहीं हैं ?"

विद्वान् हंसे। बोले, "हाथ भगवान् ने बनाए हैं। एंजिन हमारी बुद्धि ने बनाया है। उसके सामने हाथ बेकार है। कारखाने में आदमी का नाम सिर्फ़ हाथ है।"

करमसिंह ने कहा, "मैं सिर्फ़ हाथ सही। अपने इन्हीं हाथों में मेरा भाग्य है पर मेरा अजित कहां है।"

"अजित कौन ?"

"मेरा पुत्र, मैं उस जवान को यहां छोड़ गया था।"

विद्वान् मुस्करा कर बोले, "तो वह अजित नहीं रहा, विजित हो चुका।

करमसिंह ने कहा, "अजित नहीं रहा ? किससे नहीं रहा ? म्हारे घोड़े—हार्स पावर से ?"

विद्वान् ने कहा, "मनुष्य अपने से आगे जा रहा है। अपने से पार जा रहा है। वह एक घोड़े पर नहीं, सैकड़ों घोड़ों पर है। रिवोल्यूशन है—पर तुम नहीं समझोगे।"

"हां।" करमसिंह ने कहा, "मैं नहीं समझूंगा।"

"घोड़े को मैं मालिक नहीं समझूंगा। नमस्कार।"

विद्वान् ने रोककर कहा, "अरे जा कहां रहे हो ? जी आदमी ? तुम पर तो लेख लिखना है।"

करमसिंह ने कहा, "मुझे आपके हार्स पावर को जाकर देखना है। जित उसी में गया है न ?



: ६ :

अनबन

स्वर्ग में इन्द्र के पास शिकायत पहुंची कि धृति और बुद्धि इन दोनों में अनबन बनी रहती है। यह बुरी बात है और अनबन मिटनी ही चाहिए।

इन्द्र ने बुद्धि को बुलाया। पूछा, "क्यों बुद्धि, यह मैं क्या सुनता हूं? धृति के साथ तुम्हारी अनबन की बात बहुत दिनों से सुनता रहा हूं। यह बात तुम्हारी और स्वर्ग की प्रतिष्ठा के योग्य नहीं है।"

बुद्धि—मेरा इसमें क्या दोष है? मुझे अप्सराओं में प्रमुख पद दिया गया; लेकिन धृति मेरी प्रमुखता नहीं मानती। यह धृति ही का दोष है।

इन्द्र—धृति क्या कहती है? कैसे वह तुम्हारी प्रमुखता नहीं मानती।

बुद्धि—वह बड़ी चतुर है। ऊपर से तो सीधी बनी रहती है, पर भीतर अभिमानिनी है। उसके चेहरे पर मेरे लिए अवज्ञा लिखी रहती है।"

इन्द्र—अवज्ञा तो ठीक नहीं है। तुम प्रमुख हो, तब तुम्हारा आदर सबको करना चाहिए।

बुद्धि—आदर की भली कही। धृति तो मुझसे बोलती तक नहीं।

इन्द्र—अच्छा, मैं धृति को यहीं बुलाता हूं। बुलाऊं?

बुद्धि—हां, बुलाइये। देखिये मैं उसको कायल करती हूं कि नहीं।

धृति बुलाई गई।

इन्द्र ने पूछा, "क्यों धृति, यह क्या बात मैं सुनता हूं। अनबन रखना

किसी को शोभा नहीं देता। यह बुद्धि कह रही है कि तुम उनको प्रमुख नहीं मानती हो और उनकी अवज्ञा करती हो।"

धृति ने गर्दन नीची करके कहा, "मैंने कभी कुछ कहा हो तो यह बतावें। मुझसे तो वैसे भी बोलना कम आता है।"

बुद्धि—धृति, सबके सामने बनो नहीं। बिना बोले क्या अवज्ञा नहीं हो सकती ? मैं जानती हूं, तुम मुझे कुछ नहीं समझतीं।

धृति—मैंने तो कभी ऐसा नहीं कहा। न कभी ऐसा मन में लाई, आपकी अवज्ञा मैं किस बल पर करूंगी ?

बुद्धि—बड़ी मीठी बनती हो; लेकिन मुझे छल नहीं सकतीं। उस रोज़ मुझे देखकर तुमने क्यों धीरे-से मुस्कराया था ? मैं नाराज़ हो रही थी, और तुम मुस्करा रही थीं, क्या यह मेरा अपमान नहीं है ?

धृति—आप ऐसी आज्ञा प्रगट कर दें तो मैं अब से मुस्कराऊंगी भी नहीं। अभी मुझे यह पता नहीं दिया गया कि मुस्कराना नहीं चाहिए।

बुद्धि—मेरे क्रोध पर तुम हंसोगी ? फिर भी इतनी हिम्मत कि कहो कि मालूम नहीं कि ऐसा हंसना बुरा होता है। इन्द्रजी, देखी आपने इसकी धृष्टता।

इन्द्र ने कहा, धृति इनको प्रमुख बनाया गया है, तो इनका मान रखना चाहिए और इनकी आज्ञा माननी चाहिए।

धृति—मैं तो सब कुछ मानती आई हूं। और भी जो आप और ये कहेंगी मैं मानूंगी। मुझे तो इनसे किसी तरह की शिकायत नहीं है।

बुद्धि—शिकायत तुम्हें क्यों होगी। दोष भी करो और शिकायत भी हो ?

धृति—मैं मानती हूं, मुझसे दोष हुआ होगा, दोष न हुआ होता, तो मुझसे यह अप्रसन्न न रहतीं।

बुद्धि—क्यों, यहां इन्द्रजी के सामने चतुराई चलती हो ? ऐसे बोलती हो जैसे बड़ी भोली हो।

धृति—मैं अपने कसूर के लिए क्षमा मांगती हूं। यह कहकर धृति नीची गर्दन करके हाथ जोड़कर बुद्धि से क्षमा की याचना करने लगी।

बुद्धि ने कहा कि देखिये इन्द्रजी मैंने बहुत कहा। अब मेरे सहने की सीमा हो गई है। धृति का कपट-व्यवहार अब मुझसे सहा नहीं जाता। मैं आपसे कहती हूं कि या तो स्वर्ग से उसे निकाल दीजिये, नहीं तो फिर मुझे छुट्टी दीजिए।

यह सुनकर इन्द्र असमंजस में पड़ गए बोले, "बताओ धृति, मैं अब क्या करूं?"

धृति—अपराध मेरा ही रहा होगा। मुझे आप स्वर्ग से निकाल दीजिए।

इन्द्र—यह बड़े खेद और लज्जा की बात है धृति! स्वर्ग में आकर अभी तक तो किसी ने बाहर नहीं जाना चाहा है। यह तुम दोनों क्या बखेड़ा कर बैठी हो? बुद्धि तुम प्रमुख ठहरीं। कुछ बेजा देखो तो दया से काम ले सकती हो। धृति, तुमको अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखना चाहिए। जाओ, अब दोनों शान्ति से रहना, स्वर्ग बहुत बड़ा है, और यहां बताओ क्या नहीं है। सुना? अब कोई शिकायत सुनने में न आवे।

बुद्धि—इन्द्रजी, आप मुझे क्या समझते हैं? धृति बच्ची होगी, मैं बच्ची नहीं हूं। मैं बुद्धि हूं। जहां रहूंगी, इज़्ज़त के साथ रहूंगी। इज़्ज़त नहीं तो स्वर्ग क्यों न हो, मुझे नहीं चाहिए।

इन्द्र—बुद्धि तुम अ-स्थान भटक रही थीं। स्वामी महादेव की सिफ़ारिश पर हमने तुम्हें यहां स्वर्ग में यह पद दिया। हम जानते हैं कि तुम सब अप्सराओं से योग्य हो; लेकिन स्वर्ग से सहसा गिरकर तुम इतनी मुद्दत मर्त्यलोक में रहीं कि स्वर्ग की प्रकृति तुमको याद नहीं प्रतीत होती है। स्वर्ग में विभेद मत फैलाओ। जैसी शान्ति थी, वैसी रहने दो।

बुद्धि—मैं शान्ति तोड़ती हूं? मैं विभेद फैलाती हूं? आप साफ क्यों नहीं कहते कि धृति का पक्ष आप लेना चाहते हैं।

इन्द्र—नहीं बुद्धि, ऐसा नहीं है। तुम स्वर्ग की न सही, फिर भी

स्वर्ग में अद्वितीय हो। तुम मर्त्यलोक की भी द्युति हो। तुम वहां की मणि हो। महादेव जी ने जब तुम्हें देखा, तो मुग्ध हुए बिना नहीं रह सके। उन्हें करुणा भी आई। तुम्हारे तेज का उपयोग देख यहां ले आये और यहां स्वर्ग की अप्सराओं का तुम्हें प्रमुख पद मिला। बुद्धि, मुझे तुममें भरोसा है। जाओ, धृति बेचारी अबोध है। यह अब से कुछ कसूर न करेगी। क्यों धृति, बुद्धि से बुद्धि सीखो।

धृति—मैं अपने काम से काम रखूंगी और कभी इनको शिकायत का मौका नहीं दूंगी।

बुद्धि—सच कहती हो ?

धृति—हां, सच कहती हूं।

बुद्धि—और मुझसे बुद्धि सीखोगी ?

धृति—वह सीखने की तो मुझमें योग्यता भी नहीं है। बुद्धि हंस आई। बोली, "और अबके दोष हुआ तो दंड के लिए तय्यार रहोगी ?"

धृति—रहूंगी।

बुद्धि—याद रखना, अबके तुम घमंड की चाल चलीं, तो यहां से निकाल दी जाओगी।

धृति यह सुनकर नीची गर्दन किये खड़ी रही। इस पर इन्द्र ने कहा, "बुद्धि, धृति बेचारी अदना है। उसका तुम ख़याल न करो। उससे ठीक बोलना तक भी नहीं आता। थोड़ा बोलती है लज्जा आती है। वह तुम्हारे रोष के लायक नहीं है। उससे बराबरी मत ठानो। धृति, चलो, बुद्धि के पैरों में पड़ो।

धृति सुनकर चुपचाप बुद्धि के पैरों में पड़ गई। इस पर बुद्धि ने कहा, "धृति समझ लिया न। कहती होगी कि यह बुद्धि तो स्वर्ग की नहीं है, जाने किस नरक लोक की है और अमर नहीं है। लेकिन अब देख लिया न, मैं क्या हूं। अच्छा जाओ, अब अपना काम देखो"

धृति इस पर वहां से अपना नीचा मुंह किये चली गई। उसके चले जाने के बाद बुद्धि ने कहा, "इन्द्रजी, आपके इस स्वर्ग में अभी बहुत

कुछ सुधार की आवश्यकता है। मिसाल के तौर पर यहां दूध और शहद जो खिलखिलाती स्रोतस्विनी हैं, वे जहां-तहां बहती रहती हैं, बांध-बांध कर उन्हें अधिक उपयोगी बनाने की आवश्यकता है।

"यह क्या मतलब है कि जो अच्छा करे, उसे भी भरपूर खाने को मिले और जो कसूर करे, उनके भी खाने में कमी न आये। चारों ओर इस अनायास सुख की आवश्यकता नहीं है। जब तक दंड नहीं होगा, तब तक सुख नहीं हो सकता। और सुनिये। पातिव्रत धर्म यहां नहीं है, न एक पत्नीव्रत-धर्म है, इस विषय में नियमहीनता लज्जाजनक है। मैं सब जगह नियमितता पसन्द करती हूं। सोच रही हूं कि स्वर्ग के लिए एक विधान तय्यार करूं, ताकि स्वर्ग का संचालन नियमानुकूल हो।"

इन्द्र--जो उचित समझती हो करो! मैं किसी और विधान के बारे में नहीं मानता हूं। विधि-विधान से ही शायद स्वर्ग स्वर्ग है। शेष तुम जानो। मुझे तो अपनी पात्रता से अधिक बुद्धि मिली नहीं। फिर स्वर्ग का कर्ता मैं नहीं हूं। वह तो ब्रह्मा जी हैं। उनसे मिलकर इस स्वर्ग को जैसे चाहो बदल सकती हो। मेरा अपना अधिकार कुछ नहीं है मुझे तो यही याद नहीं रहता है कि मैं इन्द्र हूं। तुम लोगों में कभी कुछ बिगाड़ आता है, तभी मुझे अपने इन्द्रपने का पता चलता है। नहीं तो मैं तो तुम सभी का एक हूं। और एक सच्ची बात कहूं, बुद्धि? उसे अन्यथा न समझना। वह यह है कि स्वर्ग की सब अप्सराएं तुम्हारे सामने माता हैं। तुम सबसे कम सुन्दरी हो। तुममें सौष्टव नहीं है, भव्यता नहीं है। ठंडक नहीं है। फिर भी तुम अपने ही रूप से ऐसी रूपसि हो कि स्वर्ग का सात्विक सौन्दर्य हेच मालूम होने लगता है। बुद्धि, तभी तो मन हो आता है कि शची को छोड़ मैं तुम्हारा दास हो जाऊं।

यह कहकर इन्द्र मन्द-मन्द हंसने लगे। बुद्धि लाज में किंचित् अरुण पड़ आई। पीड़ाग्रस्त हो कहने लगी, "आप ऐसा कहेंगे तो मैं महेश के पास शिकायत पहुंचा दूंगी। मैं चिर-कुमारी रहने की शर्त पर यहां आई हूं।"

इन्द्र—अपने चिर-कौमार्य व्रत के विषय में तुमने महादेव महेश से भी सम्मति प्राप्त की है ?

बुद्धि—आपको महेश जी से क्या ? वह तो देवों के देव हैं। वह निस्संग हैं।

इन्द्र हंसते हुए बोले कि महादेवजी मृत्युलोक से आते कैसे निस्संग हैं, यह तो हमको ज्ञात नहीं; पर हम स्वर्गवासियों से उनका हंसी-मज़ाक सब चलता है। तुम घबराओ नहीं।

बुद्धि इस सान्त्वना पर एकदम नाराज़ हो गई, और झपट्टे में वहां से चली गई। इन्द्र अकेले रहकर मुसकराने लगे।



: ७ :

हवा महल

पिता के बाद युवराज राजा हुए। नई वय थी, प्रेम में पालन पाया था। लोक की रीति-नीति से अनजान थे। मन में सपने थे, तबियत में ईषत् हठ। अनुभव था नहीं; सो स्वभाव में कुछ मनमानापन था।

पर राजमंत्री लोग अनुभवी थे, और जानकार थे। वे राजा को किशोर पाकर अप्रसन्न नहीं थे। सावधान रहना उनका काम था और वे राज-काज की गुरुता के बारे में नए राजा को सीख और चेतावनी देते रहते थे। इन राजकिशोर को संभाल कर योग्य बनाना होगा, इससे वे राजा के आनंद विलास का ध्यान भी रखते थे।

एक रोज़ प्रधान राजमंत्री ने महाराजा के पास आकर कहा, "महाराज यह महल जिसमें आप रहते हैं, पुराना हो गया है। आपके पिता इसमें रहते थे, पिता के पिता इसमें रहते थे। नए महल नई तरह के होते हैं। नई तरह का एक नया महल बनना चाहिए। इतिहास के बड़े लोग अपने निर्माण-कार्य से याद किये जाते हैं। जो कीर्ति बड़ों से मिलती है उसका बढ़ाना पुत्र का धर्म है। महाराज एक नया महल बनवाएं।

महाराज—वह नया महल कैसा हो?

मंत्री—हो ऐसा कि नए से नया। अपूर्व और अधिक सुंदर और सबसे ऊंचा।

महाराज—फिर उस महल में क्या हो?

मंत्री—हो क्या ? जो सुन्दर है सब हो। उस पर महाराज की पताका फहरे। उसमें महाराज का सुयश चमके। उसमें महाराज वास करें।

महाराज—तब इस महल का क्या हो ?

मंत्री—कैसा प्रश्न महाराज ? राजमहल गृहस्थ के घर नहीं हैं, गृहस्थ का घर एक होता है, इससे वह भरा रहता है। राजा के महल अनेक होते हैं और वे कई-कई खाली रहते हैं। खाली महल वैभव के लक्षण हैं। राज-वैभव को देखकर प्रजा प्रसन्न होती है। राज-प्रासाद प्रजा के सौभाग्य के सूचक हैं। प्रजा की प्रसन्नता राजा का कर्त्तव्य है।

महाराज—प्रजा को प्रसन्न रखने का क्या उपाय है मंत्री जी ?

मंत्री—प्रजा को संतोष के लिए विस्मय चाहिए। विस्मय पाकर स्फूर्ति जाग्रत होती है। ऐसा महल बनना चाहिए, महाराज ! जो विस्मय-सा सुन्दर हो, वर्त्तमान उससे आतङ्कित हो रहे, भविष्य चकित हो जाय, बस वह एक स्वप्न ही हो।

महाराज—स्वप्न जैसा महल ! मंत्रिवर लोभ को शास्त्र बुरा बताते हैं। पर मैं अपनी ओर से आपके अधीन हूं। उस स्वप्न जैसे महल को कौन बनायगा ?

मंत्री—अनुज्ञा की देर है, हम सब सेवक किस लिए हैं ?

महाराज—वह देर क्षण की न मानिए। बन सके तो महल क्यों न बनाने लग जाइए, प्रजा के सुख में देर अनुचित है।

मंत्री—जो आज्ञा ! किंतु आपने कुछ आज्ञाएं ऐसी जारी कर दी हैं कि हमारे हाथ बंधे हैं। राज-कोष से इस बारे में व्यय का सुभीता महाराज कर दें।

महाराज—राज-कोष—

मंत्री—पचास लाख रुपया बहुत होगा, महाराज।

महाराज—मंत्री, आपका अनुमान कहीं कम तो नहीं है ? उस द्रव्य से स्वप्न-सा महल बन जायगा ? फिर सोचिए, मंत्री जी।

मंत्री—हां महाराज, बल्कि कुछ पचास से भी कम लगाने की कोशिश की जायगी।

महाराज—तब तो स्वप्न-सा महल आप मुझे क्या दीजिएगा। पचास लाख तो सुनते हैं इसी महल में लग गए थे। क्या यह विस्मय-सा सुन्दर है?

मंत्री—महाराज, निश्चय रखिए महल अपूर्व होगा और पचास लाख रुपया उसके लिए काफ़ी हो जायगा।

महाराज—मंत्री जी, आपका हिसाब सुन्दर नहीं है। सुनिए, हमारे राज्य की जनसंख्या दस लाख है न? क्या आप समझते हैं, हमारे रहते हुए हमारे राज्य के लोग दीन होंगे? इसलिए प्रत्येक पर दस-दस रुपये का हिसाब तो भी पड़ना चाहिए। महल में लगाने के लिए एक करोड़ से कम की बात आपके मुंह से शोभा नहीं देती, मंत्रिवर।

मंत्री—जो महाराज की आज्ञा।

महाराज—मेरी आज्ञा की बात छोड़िए। मैं तो राजा हूं। महल वह मेरा होगा। पर उसे बनाने का काम तो आप लोगों द्वारा औरों को करना है। इससे आप सब अपने से ही आज्ञा ले लें। मैं पूछता हूं कि प्रजा में जितने लोग हैं, उससे दस गुना रुपया महल में लगे तो यह हिसाब अशुद्ध तो नहीं कहलायगा, क्यों मंत्री जी? इसमें अपनी राय बताइए।

मंत्री—जो महाराज की आज्ञा।

महाराज—फिर मेरी आज्ञा! मेरा काम महल में रहने का होगा। इससे पहले का काम आप लोगों का और मजूर लोगों का है। मंत्री जी, पैसे का हिसाब-किताब का काम राजोचित नहीं है।

मंत्री—जो इच्छा।

महाराज—इतना ठीक हो गया न? अब मुझसे कुछ मत पूछिए। मेरी ओर से आप लोग इस महल के बारे में अपने को पूरा आज़ाद मानिए। पर हां, महल का नाम क्या रखिएगा?

मंत्री—नाम !

महाराज—सुनिए ! 'हवा महल' नाम हो तो कैसा ? बोलिए पसंद है ?

मंत्री—बहुत सुन्दर, बहुत सुन्दर ।

महाराज—तो फिर और भी सुनिए । आसमान सात होते हैं । महल में मंजिलें भी सात हों । इंद्रधनुष के रंग कितने होते हैं—सात कि कम ? ख़ैर, मंजिलें सात हों और इन्द्रधनुष के सब रंग वहां हों । ठीक ?

मंत्री—बहुत ठीक !

महाराज—सुनिए मंत्री जी, हम राजा हैं न ? तुच्छ बातें हमारे लिए नहीं हैं । रुपए की बात सोचे वह राजा नहीं, वह मामूली लोगों का काम है । रुपए की मत सोचना । महल हवा महल बनता है तब रुपए की क्या कूत ? राज का कोष आख़िर किसलिए है ? महल से प्रजा ख़ुश होगी । इससे महल में जितना भी धन लग सके उससे तनिक भी कम नहीं लगना चाहिए । मंत्री जी, महल के साथ मेरे सामने रुपए की बात लाने से मेरे राजपन का अपमान होता है । जाओ, सात मंजिल के हवा महल की तय्यारी होने दो ।

मंत्री—मैं अनुगृहीत हूं । तो राज कोषाध्यक्ष को आप आवश्यक आदेश दे दें ।

महाराज—फिर आप छोटी बातें उठाते हैं ।

मंत्री—बहुत अच्छा । कल ही काम आरंभ हो जायगा । प्रजाजन इस ख़बर को सुनकर बहुत कृतज्ञ होंगे । इससे उन्हें करने को काम मिलेगा और महाराज के अभिनंदन के लिए अवसर ।

महाराज—मंत्री, इस महल के बारे में मुझसे और कुछ न पूछिए । आप इसके विषय में पूरे आज़ाद हैं । बनने पर उसका आनंद और यश पाने को मैं हूं । उससे पहले की सब बातें आप जानें ।

मंत्री—जो आज्ञा ।

मंत्री चले गए और अगले दिन से महल की तय्यारी होने लगी । प्लान

बने, नक़्शे बने, लोग चल फिर करने लगे। इंजीनियर तत्पर हुए, ठेकेदार आगे आए और मजूर जुटाए जाने लगे। राजधानी के नगर में समारोह-सा ही दिखने लगा, मानो जहां आर्द्रता भी सूख रही थी, वहां ताजा लहू बह चला।

पर राजा ने कुछ नहीं सुना। उन्हें जैसे रखने को कुछ पता ही नहीं चाहिए। जब उन्हें काम के बारे में सूचनाएं दी गईं तब उन्होंने कहा—मैं हवा महल चाहता हूं, शेष सब कुछ, मंत्रिगण, आप लोग जानें। मुझे तो हवा महल दे दें।

मंत्री—देखिए तो, महाराज महल का यह चित्र कितना सुन्दर है।

महाराज—बहुत सुन्दर है।

मंत्री—महाराज उदासीन प्रतीत होते हैं। देखिए चित्र और कहिए, है कि नहीं सुन्दर।

महाराज—बिना देखे कहता हूं कि अपूर्व सुन्दर है।

मंत्री—महाराज, महल बनने की सूचना से प्रजा में नया चैतन्य आ गया है। शत-शत मुख से आपका यशोगान सुन पड़ता है।

महाराज—मंत्रिगण, यह शुभ समाचार है। आपसे मुझे ऐसी ही सांत्वना है।

मंत्री—महाराज का आशीर्वाद हमारा बल है।

महाराज—प्रजा की प्रसन्नता सभी का बल है।

किंतु महाराज की उदासीनता दूर न हुई। वह कभी सामने, दूर, ठहरी हुई आसमान की सूनी नीलिमा को देखकर अवसन्न हो रहते, उनके मन पर जैसे यह शून्य अवकाश छाए आता हो।

उधर काम ज़ोरों से होने लगा। नगर में मानो चैतन्य का एक पूर-सा आ गया। आदमी-ही-आदमी.... आदमी-ही-आदमी। हज़ारहा आदमी दूर-दूर से खिंच कर वहां मजूर बनने आने लगे। और ऐसा कोलाहल मचने लगा मानो लोग प्रसन्नता से ही मत्त हुए जा रहे हैं। और जाने कहां-कहां का सामान इकट्ठा हुआ—लकड़ी, लोहा, मिट्टी, पत्थर। और उनको

लाने के लिए कलें आईं। और उनको यहां से वहां उठाने धरने के लिए और भी कलें आईं। और वर्दी वाले अफ़सर आए और चपरास वाले चपरासी आए। और दफ़्तर खुले और डिपो खुले, और अस्पताल और पानीवर और टट्टीवर आदि-आदि भी खुले। और एक ऐसा घर भी खुला जहां से भूखों को मुफ़्त रोटी का दान दिया जाता था। रोग फैले तो उन्हें दमन करने के लिए डाक्टरी बनी, जिसके जानकार डाक्टर बने। झगड़े उठे तो उनके मिटाने के लिए जज और वकील जनमे। और दुष्ट का दमन और साधु का परित्राण करने के लिए नीतिज्ञ जनों ने क़ानून-पर-क़ानून खड़े किए। जिस पर बद्ध परिकर पुलिस आई और मदिरालय आए और द्यूत-गृह आए और........मतलब, काम ज़ोरों से और व्यवस्था से और शांति से होने लगा।

एक दिन महाराज, सीधे-सादे कपड़े पहने उधर जा निकले। उन्होंने देखा—नए महल की जगह के और उनके बीच में अब जाने कितना न अन्तर प्रतीत होता है। और जाने कितने न आदमी उस अंतर को भरने के लिए मध्य में खप रहे हैं। वह चलते गए। वह देखना चाहते थे कि महल का क्या बन रहा है।

ठीक स्थान पर पहुंच कर उन्होंने देखा कि धरती में दूर-दूर तक गहरी और लंबी खाइयां खुदी हैं। गहरी इतनी कि उनमें सीधे और पूरे कई आदमी समा जायं। वे आपस में कटी-फटी ऐसी धरती में बिछी हैं कि मानो कोई षड्यंत्र फैला हो—जैसे वह कोई भयंकर चक्र हो। धरती के भीतर तक पोला कर डाला गया है कि जगह-जगह मोरियां-सी बन गई हैं। यह सब देखकर राजा का मन विश्वस्त नहीं हुआ। जिसका सिर खुली हवा में हो और जिससे आसमान पास हो जायं, वह महल क्या ऐसा होता है? यह आकाश की ओर उठाने वाला महल है, या नरक की ओर ले जाने वाला कोई जाल है!

राजा ने वहां एक आदमी से पूछा—भाई यह सब क्या हो रहा है?

सुनने वाले ने बताया कि नए महाराज का नया महल बन रहा है। तुम कहां रहते हो? इतनी बात भी नहीं जानते हो?

महाराज ने कहा कि भाई मैं भूल में रहता हूं। मैं बहुत कम बात जानता हूं। एक बात तो बताओ, भाई, कि ये इतने लोग एक दम कहां से यहां आ गए हैं! पहले तो यह जगह सुनसान थी। यहां आने के लिये वे ख़ाली हाथ बैठे थे क्या? इससे पहले वे कुछ नहीं करते थे?

उस आदमी ने कहा—तुम कैसे अनजान आदमी हो जी। आजकल करने को कौन धंधा रह गया है। जहां देखो वहीं कल। धरती नाज देती है, पर रोटी अपने हाथ से थोड़े ही वह दे देगी। वह नाज धरती पर से साहूकार की कोठी में चला जाता है। सो किसान भूखा रहता है, कि कब वह मजूर बनकर पेट पाले। इससे मजूरी में रोटी दो तो हज़ार क्या लाख आदमी ले लो। तुम जाने कहां रहते हो जो इतना तक नहीं जानते। नए महाराज हमारे बड़े उपकारी हैं जिससे इतने लोगों को काम मिल गया है।

महाराज—यह तो ठीक बात है, पर इस उपकार से पहले इन लोगों का क्या हाल था, वे भूखे ही थे न? उस भूख में राजा का कोई धर्म नहीं है?

सुनने वाले आदमी ने रिस भाव से कहा—तुम कैसे आदमी हो जी, जो राजा के विरोध की बात करते हो। तुम्हें क़ानून का और धर्म का डर नहीं है? जाओ तुम कोई ख़ाली आदमी मालूम होते हो। हमको अपना काम है।

राजा आगे बढ़ गए। धरती के भीतर खुदी हुई व्यूह-सी बनी उन मोरियों को यहां-वहां से देखते हुए वह कुछ काल घूमते रहे। थक-थकाकर फिर वह वापस लौट आए।

अगले दिन उन्होंने मंत्रियों को बुलाकर पूछा—कहिए मंत्रिगण, महल का काम कैसा हो रहा है?

मंत्री—काम तेज़ी से हो रहा है, महाराज। दस हजार मजूर लगे हैं। बस छः महीने में महल आप देखेंगे।

महाराज काम कितना हो गया है ?

मंत्री—बुनियादें पूरी हो गई हैं। बस अब चिनाई शुरू होगी।

महाराज—चलो, देखें क्या हो रहा है।

मंत्रियों के साथ महाराज मौक़े पर आए। देख कर —बोलेयह सब क्या है ?

मंत्री—हुज़ूर, अब यह नींव तैयार हो गई है। ज़मीन बहुत उम्दा निकली। महल का पाया यहां बहुत मज़बूत जमेगा। हज़ारों बरस बाद तक इससे आपका यश क़ायम रहेगा—

महाराज ने बीच में ही रोककर कहा—यह कुछ हमारी समझ में नहीं आ रहा है। क्या आप याद दिलायंगे कि हमने क्या कहा था।

मंत्री—महाराज ने हवा महल तैयार करने की इच्छा प्रकट की थी।

महाराज—हवा महल, ठीक। क्या और कुछ भी कहा था ?

मंत्री—महाराज की आज्ञा के अनुसार ही हो रहा है। कुछ काल बाद महाराज देखकर प्रसन्न होंगे। अभी काम का आरंभ है।

महाराज—याद आता है कि हमने सात मंजिलों का महल कहा था। हम आसमान की तरफ़ हवा में उठना चाहते थे। आप लोगों ने यह क्या किया है ?

इस पर महाराज के सामने इंजीनीयर आए। नक़्शे-नवीस आए, ठेकेदार आए, सब ने समझा कर बताया कि महल ठीक हुज़ूर की मनशा जैसा होगा। पर महाराज की समझ में उसमें से थोड़ा भी न आ सका। उन्होंने अधीर भाव से पूछा—आप सब लोग बताएं कि मैं महल में रहता हूं या आप लोग रहते हैं।

यह सुनकर मंत्री लोग चुप रह गए, कुछ जवाब नहीं दिया।

महाराज ने कहा—अगर मैं कहूं कि आप से अधिक मैं महल को जानता हूं तो क्या आप इसका विरोध कीजिएगा ?

मंत्री लोग इस बात का भी जवाब नहीं दे सके।

तब महाराज ने कहा—महल ज़मीन से ऊँचा होता है कि नीचा? चुप क्यों हैं? बताइए।

इस पर मंत्रियों ने समझाना चाहा कि महाराज—

लेकिन बीच में ही उन्हें रोककर महाराज कहने लगे—नहीं, वह मुझे मत समझाइए। आप मुझे यह नहीं समझा सकते कि स्वर्गीय कुछ भी ऐसे बन सकता है। हमारा ख़याल है कि स्वर्ग की कल्पना ऊँची उठेगी और जो पाताल में है वह नरक है। आप लोगों की बातें समझदारी की हैं और मैं जानता-बूझता कम हूं। लेकिन महल जानता हूं। धरती को इतना गहरा खोद कर आप लोग जो मेरे लिए बनाओगे वह सचमुच महल होगा ऐसा विश्वास मुझे नहीं है। हो सकता है कि इस तरह अनजान में आप लोग मेरी क़ब्र बना रहे हों। आप, सच, मुझे इसमें गाड़ना तो नहीं चाहते? कहीं यह मेरे नरक की राह ही तो नहीं खोदी जा रही है? यह महल है कि धोखा? मैंने महल कहा था और इधर हज़ारों लोगों को लगाकर ये खाइयां खोद दी गई हैं। मैं पाताल में जाना नहीं चाहता, सूरज की धूप की ओर उठना चाहता था।

कह सुनकर महाराज घर आये। उनके मन को मानो एक विषाद डसे डालता था। अगले दिन उन्होंने फिर मंत्रियों को बुलाया। कहा—मंत्रिगण, बतलाइए कि क्यों मैं यह नहीं समझूं कि आप सब मेरे ख़िलाफ़ षड्यंत्र कर रहे हैं।

इन पर महाराज को एक मन्त्री ने नीति से समझाया।

दूसरे मंत्री ने हिम्मत और भय दिखला कर समझाया।

तीसरे मंत्री ने स्तुति द्वारा राह पर लाना चाहा।

चौथे मंत्री ने महाराज की मुद्रा देखकर विनम्र भाव से क्षमा मांगी।

पर इन सब के उत्तर में महाराज अविचल गंभीर ही दीखे। पता न चला कि उन्होंने क्या समझा और क्या नहीं समझा।

प्रधान मंत्री अब तक मौन थे। अब बोले—महाराज, यदि दोष है तो मेरा है। लेकिन आज्ञा हो तो निवेदन करूं कि राज-काज इस नीति

से नहीं चलेगा। आप नए हैं, हमारे इसी व्यापार में बाल पके हैं। पर हमारे अनुभव का कोई लाभ आप उठाना नहीं चाहते तो हम सबको छुट्टी दीजिए और क्षमा कीजिए।

महाराज ने कहा—सच यह है कि मैं अपने को ही छुट्टी देना चाहता था। लेकिन आप अनुभवी लोग भी जब छुट्टी चाहते हैं तो मैं मान लेता हूं कि मेरी मुक्ति में अभी देर है। आप लोगों को छुट्टी पाने का पहला अधिकार है और मैं उस अधिकार के सामने झुकता हूं।

मन्त्री लोग राजा की समझ से निराश हो रहे थे। आशा न थी कि स्थिति एकदम यों हाथ से बाहर हो जायगी। उनमें से कई अब सहज भाव से महाराज की प्रशंसा करने लगे।

महाराज ने कहा—मैं आप सबका कृतज्ञ हूं। आशंका आप न करें; आपकी छुट्टी मैं नहीं रोक सकूंगा। अभी से आप अपने को अवकाश-प्राप्त समझ सकते हैं और प्रबंध हो तब तक चाबियां मुझे सौंप जायं। प्रार्थना यह है कि आप मुझ पर सदा करुणा भाव रखें।

इसके बाद एक एक कर महाराज ने उन सबका अभिवादन लिया और विदा किया।

: ८ :

ऊर्ध्वबाहु

इन्द्र अपने नन्दन-कानन में अप्सराओं समेत आनन्द-मग्न थे कि सहसा उनका आसन दोलायमान हुआ। इस पर उन्होंने चारों ओर विस्मय से देखा। अनंतर सशंक भाव से कहा, "प्रहरी, देखो यह किस मर्त्य का उत्पात है?"

प्रहरी स्वर्ग से सिधार कर धरती पर आया और लौट कर सूचना दी— "महाराज, तपस्वी ऊर्ध्वबाहु प्रचंड तप कर रहे हैं। दिशाएँ उस पर स्तब्ध हो उठी हैं। उसी के प्रताप से स्वर्ग की केलि-क्रीड़ा में विघ्न उपस्थित हुआ है।"

इन्द्र ने कहा, "ऊर्ध्वबाहु! ऋषि भद्रबाहु का वह उद्दण्ड शिष्य! उसकी यह स्पर्द्धा!"

प्रहरी ने कहा—"हाँ महाराज, वह अमोघ तपस्वी ऋषि भद्रबाहु के ही आश्रम के स्नातक हैं।"

इन्द्र ने तब अपने विश्वस्त अनुचर सौधर्म को निरीक्षण के लिए भेजा। सौधर्म ने आकर जो बताया, उससे इन्द्र भयभीत हो आये। वह अस्थिर और म्लान दिखाई देने लगे। सौधर्म ने ऊर्ध्वबाहु की अखंड तपश्चर्या का रोमहर्ष वर्णन किया। पूरा संवत्सर उन तपोव्रत ने निराहारयापन किया है। बराबर पंचाग्नि भी तपते रहे हैं। अखंड मंत्रोच्चार के सिवा कोई शब्द मुँह से नहीं निकलने दिया है। अमा रात्रि की निबिड़ता में ही आँखों को खोला, नहीं तो सदा बन्द रखा है। हिम, आतप, वर्षा और वायु को

नग्न शरीर पर सहन किया है। मानों बाहु और मुख ऊपर किये एक पैर पर खड़े रहे हैं। वह बाल ब्रह्मचारी हैं। सोलह वर्ष की अवस्था से उन्हें स्त्री के दर्शनमात्र का त्याग है। आस-पास की भूमि उनके तप के तेज से तृणांकुर-हीन हो गई है, और वृक्षों के पत्ते झुलस उठे हैं।

यह सब सुन कर इन्द्र चिन्ताग्रस्त हुए और उन्होंने कामदेव को बुलाया। कहा—"हे कन्दर्प देव, ऐसे संकट में तुम्हीं ने सदा मेरी सहायता की है। धरती पर फिर एक महास्पर्द्धी मानव तपस्या के बल से हमें स्वर्गच्युत करने का हठ ठान उठा है। वह भूल गया है कि वह शरीर से बद्ध है और मर्त्य है। तुम अनंगरूप हो, कामदेव, और अंगधारी के गर्व-खर्व करने को अतुल बल-संयुत हो। जाकर उस उद्दण्ड ऊर्ध्वबाहु को वश में लो और उसकी तपश्चर्या का दर्प चूर्ण कर दो। इस कार्य में अब विलम्ब न करो, अन्यथा हमारे इस स्वर्ग पर संकट ही आया चाहता है। मानव यदि अपनी अन्तर्वासनाओं को इस प्रकार एकाग्र और केन्द्रित करने में सफल हो जायगा, तो हम देवताओं का अस्तित्व ही व्यर्थ हो जायगा। हे मन्मथ, मनुष्य के मन में नाना प्रकार के मनोरथों को अंकुरित करते रह कर ही हम स्वर्गवासी अपना अस्तित्व निरापद रख पाते हैं। उन मनोरथों से स्वाधीन होकर हीन मनुष्य हमें अपने अधीन कर लेगा। इससे हे विश्व-जयी, जाओ और उस तपस्वी के मन में मोह उत्पन्न करके स्वर्ग की रक्षा करो।"

आज्ञा पाकर कामदेव अपने आयुध और सैन्य समेत धराधाम पर ऊर्ध्वबाहु के निकटस्थ अवतीर्ण हुए। तब सहसा ही आसपास की पृथिवी विलसित हो उठी। छहों ऋतुओं का युगपत समागम हुआ। मन्द-मन्द बयार बह आई। पुष्प मंजरियों से धीमी-धीमी सुगन्ध फैलने लगी। आकाश भी मानो सुख स्पर्श कर उठा। सब कुछ जैसे तरंगित होकर झूम उठा हो। ऊर्ध्वबाहु ने सुखयोग की इस आपदा को अनुभव किया और आँखों को और भी कस कर बन्द कर लिया। शेष शरीर को भी मानो समेट कर जड़वत् करने की चेष्टा की।

उस समय दसों दिशाओं से मदिर मधुर संगीत की मूर्च्छना उसके कर्ण-रन्ध्रों में प्रवेश करने लगी। शरीर में मानो हठात् पुलक छा जाने लगा। रक्त सनसनाता-सा शिराओं में प्रवाहित हुआ और निराहारी शुष्क अंग-प्रत्यंग में जैसे हठात् हरीतिमा भरने लगी।

ऊर्ध्वबाहु समझ गये कि यह इन्द्र का उपसर्ग है। उस समय मन-प्राण में से चेतना खींचकर मस्तिष्क के ऊर्ध्व में केन्द्रित कर रखने की उन्होंने प्रणपूर्ण-भाव से चेष्टा की। बाहरी किसी माया पर वह अपनी आँखें नहीं खोलेंगे, किसी रस का स्पर्श नहीं लेंगे। बहती वायु, भीनी गंध, मधुर स्वर और मादक वाताकाश सब इन्द्रियों का भ्रम है। इन व्यापारों से इन्द्रियों का संगोपन कर अतीन्द्रियता में ही ब्रह्ममग्न रहना होगा। विषयों में इन्द्रियाँ भागती हैं, आत्म-विषय अतः उनका निग्रह ही है। काया को स्खलित और शिथिल किसी भांति नहीं होने देना होगा, अशेष भाव से ब्रह्मध्यान में ही रह कर काया की बाग को स्थिर सङ्कल्प से थामे रखना होगा।

और तत्क्षण चहुँ ओर मन्थर निक्षेप से रखे जाते हुए अनेक पग-पायल के नूपुरों का किंक्कणन उसे सुनाई दिया। मानों अप्सराओं के समूह ठठ के ठठ यूथबद्ध होकर चतुर्दिशाओं में मृदु-मन्द नृत्य-क्रीड़ा कर उठे हों।

ऊर्ध्वबाहु अचल-प्रण तपस्वी की भांति मन ही मन सुरपति की माया-लीला पर व्यंग-भाव से मुस्कराये। वह जानते थे कि वह सुरपति को पराजित करेंगे। माया-राज का वह अधीश्वर इन्द्र परम पुरुष परब्रह्म के द्वार पर लुब्धक प्रहरी के समान निषेध-मूर्त्ति बन कर जो बैठा हुआ है, उसको बलात् वहाँ से पदच्युत कर भगवद्दर्शन के द्वार को उन्मुक्त कर देना होगा।....

कि तभी नूपुरों की मंद-मंद ध्वनि उत्तरोत्तर द्रुत होने लगी। होते-होते मानो एक तीव्र उत्तेजना में उन्मत्त भाव से वह ध्वनि निकट आकर रक्ताक्त मदिरा-फेन के समान उफनती हुई थिरकने लगी। क्रमशः असंख्य नूपरों का वह स्वर समवेत होकर लहकती ज्वाला की भांति कर्ण-कुहरों

से होकर तपस्वी के भीतर पिघलता हुआ उतरने लगा। ऊर्ध्वबाहु को इस पर क्रोध हो आया। मुझमें बिना मेरी अनुमति प्रवेश करने वाली तरलाग्निवत् यह राग वस्तु क्या है? मेरे निकट यह कौन उसे उत्थित करने का साहस कर रहा है? क्या उसे जीवन की कांक्षा नहीं है? कौन इस प्रकार मेरे शाप में भस्म होने को यहाँ आ पहुँचा है? यह धार कर क्रुद्ध भाव से तपस्वी ऊर्ध्वबाहु ने अपने नेत्र खोले।

देखा, चिबुक पर तर्जनी रखे एक रूपसी मानो नृत्य के बीच में सहसा अवसन्न होकर उनकी ओर कौतुक से देख रही है। उसी समय उनके भीतर बहुत गहरे में कोई फूलों की चोट दे गया। वृक्ष की ओट में पुष्प-धनु का संधान किये पंचशर अवसर देखते ही थे। क्षण-भर अप्सरा उनकी ओर मानो देखती रही। फिर मुस्कराहट बिखेरती यौवन भार लिये नाना-भंगिमा में शरीर को वक्र करती, नूपुरों को क्वणित करती हुई उन्हीं के निकट आने लगी। आते-आते मानो श्वास-स्पर्श तक पहुँच कर वह एक साथ त्वरित गति से फिरकी लेकर नृत्य करती हुई वह पीछे लौट उठी। उस समय उसका परिधान वायु में लहरें ले रहा था और उसके अंग-प्रत्यंग क्षण-क्षण झलक कर ओझल हो रहे थे। वे पल के सूक्ष्म भाग तक आँखों में झाईं देकर तत्काल आपस में ऐसे खो जाते थे कि दक्षिण-वाम का अन्तर भी नहीं रह जाता था। जैसे भागते हुए भीने बादलों में से दीख-दीख कर भी चन्द्रमुख न दीखे, पर चन्द्र-प्रभा और भी मोहक हो जाय। ऊर्ध्वबाहु ने भृकुटी में वक्र डाल कर इस दृश्य पर निगाह खोली। मानो कुछ उनकी चेतना में झलमली देता हुआ घूम गया। दृष्टि उनकी खुली ही रह गयी। भृकुटी का वक्र भी जाता रहा। गात में सिहरन हो आई। उसी समय हठात् कुछ स्मरण करके उन्होंने आँखों को बन्द कर लिया और ध्यान को मूर्धा की ओर खींचना चाहा। पर पलक नृत्य करती हुई देवाङ्गना को मन में पहुंचा कर मानो उस पर कपाट की भांति ही बन्द हुए और ध्यान उन्हें मुहुर्मुहुः वलयमान उस अस्पष्ट ज्योतिज्ज्वाला के चहुँ ओर परिक्रमा करता हुआ ही प्रतीत हुआ।

उस समय अपने द्वंद्व के त्रास से ऊर्ध्वबाहु संतप्त हो आये। मानो शिरा-शिरा स्वयं उनके ही प्रतिकूल सन्नद्ध हो पड़ी हो। उनका रक्त उनके ही आदेश के प्रति विद्रोह हो उठा हो। उनका अंकुश स्वयं उन्हीं पर उलटा लग रहा हो। वह कुछ न समझ सके। यह भी न समझ सके कि अपने विवेक के प्रतिकूल अपने रक्त की विजय वे स्वयं ही चाहते हैं। वह पूछने लगे कि क्या वह चाहते हैं कि रक्त उनके मस्तक में ऐसा चढ़ जाय कि फिर कुछ उन्हें रोकने के लिये ही न रहे? पर वह अपने में कुछ भी अलग न पकड़ सके, कुछ भी उत्तर न पा सके। मुहूर्त्त भर तुमुल द्वंद्व उनके भीतर मचता रहा। मानो उन्हीं के पाताल देश से क्रुद्ध प्रभंजन उठ कर उन्हें झकझोरने लगा। उसके विस्फूर्जित आवेग में उनके संचित धारणा-संकल्प कहाँ टूट-फूट कर रह गये हैं, मानो उन्हें कुछ पता नहीं चला।

इस प्रलयान्तक मुहूर्त्त के बाद उन्होंने आँख खोली। नृत्य शान्त था। किन्तु एक नहीं, अनेक नहीं, असंख्य, अनंत अप्सराएँ चतुर्दिक उनकी ओर देखती हुई मुस्करा रही थीं। मानो उन्हें ऊर्ध्वबाहु की आज्ञा की ही प्रतीक्षा है! और—

तपस्वी की दृष्टि में स्पृहा जागृत हुई। उन्होंने आँखें मलीं और खोलीं। कहीं सब स्वप्न तो नहीं है! पर देखा अपरूप शोभाशालिनी अनंगलताएँ उनकी ही ओर आ रही हैं—निकट आ रही हैं, निकट से और निकट आ रही हैं। इस रूप-लावण्य के सागर के लिये उनके रोम-रोम से आमंत्रण स्फुरित होने लगा। मुख की चेष्टा बदल गई और अनायास उनकी बाँहें आगे को फैल गईं—

किन्तु बाँहें फैली ही रह गईं, कुछ उनमें न आया था। सब अनंत विस्तृत दिशाओं की शून्यता में मिल कर खो गया था।

ऊर्ध्वबाहु ने पाया, वहाँ बस वही है—व्यर्थ, खण्डित और एकाकी।

: ९ :

भद्रबाहु

इन्द्र को समाचार प्राप्त हुआ कि कामदेव की कन्दर्प-वाहिनी ने दुर्द्धर्ष ऊर्ध्वबाहु की तपश्चर्या को सफलतापूर्वक भंग कर दिया है। किन्तु वह इस पर पूर्ण आश्वस्त नहीं दिखाई दिये।

सौधर्म ने पूछा, "महाराज को अब क्या चिन्ता शेष है?"

इन्द्र ने कहा, "सौधर्म, ऊर्ध्वबाहु के सम्बन्ध में वह चिन्ता नहीं है। कठोर तपस्वियों से मुझे भय का कारण नहीं है। फिर भी मर्त्यलोक के मानव की ओर से मैं निश्शंक नहीं हो पाता हूँ। उनमें से कुछ हम मध्यवर्त्ती देवताओं को बिना प्रणिपात किये सीधे भगवान् से अपना योग स्थापित करने में समर्थ होते हैं। हम लोग मनोरथों के सारथी हैं। किन्तु कुछ पुरुषोत्तम आरम्भ से ही शून्य मनोरथ होकर भगवान् में सन्निविष्ट होते हैं। उन पर हमारा शासन नहीं चलता। इच्छाओं के तन्तुओं द्वारा ही मानव-चित्त में हमारा अधिकार-प्रवेश है। उन तन्तुओं का सहारा जहाँ हमें नहीं है, वहाँ हम निष्फल हैं। सौधर्म, धरती पर ऐसे पुरुष जन्म पाते हैं जिनमें प्रवेश के लिये हमें कोई रंध्र प्राप्तव्य नहीं होता, ऐसी नीरंध्र जिनकी भगवद्भक्ति है।

सौधर्म ने कहा, "महाराज, क्या वसुन्धरा पर ऐसा पुरुष कोई विद्यमान है जिसमें कामनाएँ नहीं हैं?"

इन्द्र ने कहा, "सौधर्म, मनुष्य-जाति की ओर से मुझे खटका बना ही रहता है। हम देवताओं को भगवान् की ऋद्धियाँ प्राप्त हैं, फिर भी

उनका अनन्य प्रेम प्राप्त नहीं हैं। हम प्रकृति के साथ समरस हैं। गम्भीर द्वन्द्व की पीड़ा हममें नहीं है। इससे पाप और प्रयत्न-पुरुषार्थ भी हममें नहीं है। मनुष्य निम्न है, इसीसे भगवान् में उसके लिये आकुलता है। उसी राह उठकर मानव भगवान् में अभिन्नता पाता है। सौधर्म, तुम कैसे जानोगे? स्वर्ग का अधिपति होकर मेरे लिये यह कैसी लांछना की बात है कि नर-तन-धारी हम ऋद्धि-धारियों को बीच में उल्लंघन करके प्रभु तक पहुँच जायँ। इससे बड़ी अकृतकार्यता और हमारी क्या हो सकती है? मनुष्य पामर है, क्षुद्र है, स्वल्प है। हम देवता मनोगति की भांति अमोघ हैं। फिर भी मनुष्य हमारे वश रहते हमें उल्लंघित कर जाय, यह हमें कैसे सहन हो?"

सौधर्म ने कहा, "महाराज, आपका रोष उस अपदार्थ मानव की महत्ता बढ़ाता है। वह क्या इसके योग्य है?"

इन्द्र सुनकर चुप रह गये। पर किसी आसन्न संकट का संशय उनके मन से दूर नहीं हुआ।

एक रोज नारदजी ने आकर उन्हें चेताया, कहा—"अरे इन्द्र, तू कैसा स्वर्ग का राज्य करता है? स्वर्ग को हाथ से छिनाने की इच्छा है क्या?"

इन्द्र ने सादर पूछा, "क्या महाराज,...."

नारद—"क्या महाराज करता है! अरे, ऊर्ध्वबाहु को धराशायी करके तेरा काम मिट जाता है क्या? मालूम नहीं! भद्रबाहु के पास से वह फिर नया संकल्प और नया स्वास्थ्य लेकर ब्रह्म की चर्या में जुट पड़ा है? इस बार तेरी खैर नहीं है, रे इन्द्र!"

इन्द्र—"महाराज, मुझे क्या करना चाहिये?"

नारद—"करना चाहिये यह कि पत्ते-पत्ते से लड़ और जड़ को मत छू। क्यों रे, मुझ से पूछता है क्या करना चाहिये?"

इंद्र ने विनत भाव से कहा, "देवर्षि, हम देवताओं को आप ही सरीखे महात्माओं के आदेश का भरोसा है।"

नारद बोले, "इसमें आदेश की क्या बात है? फल से बैर करता है

और जड़ को सुरक्षित रखता है ! फिर अपनी ख़ैर भी चाहता है ?"

इन्द्र ने कहा, "महाराज, आज्ञा करें, उसी का पालन होगा।"

नारद—"सुन रे इन्द्र, वह ऊर्ध्वबाहु प्रार्थी होकर फिर गुरु भद्रबाहु के पास गया। कहा—'हे गुरुवर, इन्द्र की माया ने मेरी साधना भङ्ग की है। आपके पास आया हूं कि वह मंत्र दें कि तप अखण्ड और अमोघ हो।' जानता है रे, भद्रबाहु ने क्या किया ?"

"नहीं, महाराज !"

नारद—"स्वर्ग का अधिपति तो क्या तू केलि-क्रीड़ा के लिये ही बन बैठा है ? ऊर्ध्वबाहु पर गुरु की कृपा न थी, पर इस बार उन्होंने उसे सिद्ध-मंत्र दिया है, रे असावधान ?"

इन्द्र ने कहा, "ऊर्ध्वबाहु के मन में तो महाराज, स्पर्द्धा है। स्पर्द्धा में तो साधना की सिद्धि का विधान नहीं है, महाराज !"

नारद—"सिद्धि नहीं तो ऋद्धि का तो विधान है, रे जड़ ! सिद्धि को तू क्या जानता ? पर ऋद्धि का तुझे भय नहीं है रे, सच कह।"

इन्द्र—"वही भय है, महाराज !"

नारद—"भय है तो निश्शंक क्या बना हुआ है रे ? भद्रबाहु निर्भय होता जा रहा है, इसकी भी ख़बर है ?"

इन्द्र ने कहा, "भगवन्, मैं अब ख़बर लेता हूं।"

नारद—"हाँ, अपने कर्त्तव्य की याद और अधिकार की रक्षा करते रहना, समझे ?"

अनन्तर नारद बिदा हुए, और इन्द्र ने सदा की भांति कामदेव को बुला भेजा।

कामदेव स्वर्ग से अनुपस्थित थे, इससे रति आकर उपस्थित हुई और उन्होंने इन्द्र की आज्ञा पूछी।

इन्द्र ने हँस कर कहा, "देवि, देवकंदर्प किस कारण अनुपस्थित हैं ?

रति ने कहा, "भगवन्, पृथ्वी पर उन्हें आज कल काफी काम रहता है।"

इन्द्र ने पूछा, "देवि, तुम्हें वह छोड़ ही जाते हैं ?"

रति ने कहा, "भगवन्, पृथ्वी पर सम्प्रति मनसिज की ही आवश्यकता है। देह-धर्म से विमुखता का प्रचार होने के कारण मुझे अब सदा उनके साथ जाना नहीं होता है।"

इन्द्र ने कहा, "इस बार देवि, तुम्हें साथ जाना होगा। विषम अवसर आया है। भद्रबाहु के सम्बन्ध में सुना है कि उनमें विमुखता नहीं है। इससे अप्सराओं से काम नहीं चलेगा। सती पत्नी की महिमा ही काम आयेगी।"

रति ने कहा, "चित्त लुभाने का काम, देवराज, अप्सराओं का है। वह तुच्छ काम क्या मेरे ऊपर आयगा ? वैज्ञानिक पक्ष में ही मेरा उपयोग है। दूसरा हलका काम मुझसे न होगा, भगवन्। सृष्टि से जिस का सीधा सम्बन्ध नहीं है, जो कार्य केवल मन के व्यापारों तक है, उसमें मुझे रस नहीं है, भगवन्। किसी को अपने ही विरुद्ध करने में मेरी सहायता न मांगिये।"

इन्द्र ने हँस कर कहा, "कामदेव इसी विशेषज्ञता के कारण तुम्हें यहाँ छोड़ जाते होंगे। देवि ! तुम्हें अपने पति पर श्रद्धा नहीं है ?"

रति—"मैं उनकी अनुवर्तिनी हूं, भगवन्। पर वह हवा में रहते हैं। उन्हें सदा कहती हूं कि मनोलोक ही बस नहीं है। पर मैं उन्हें अपने में रोक कहाँ पाती हूं ? उनका केन्द्र मुझ में हो, पर अप्सराओं को लेकर वह अपनी परिधि विस्तार में रहते हैं।"

इन्द्र ने कहा, "देवि, तुम स्वर्ग-धर्म को जानती हो। संयम हमारे लिए नहीं है। भद्रबाहु का प्रसंग अति विषम है। देवि, कंदर्प आयें तो उन्हें यहाँ भेज देना। इस बार वह तुमको छोड़ कर नहीं जायेंगे।"

रति ने कहा, "जिन्हें वह अपनी विजय-यात्रा कहते हैं उनमें उनके साथ जाने की मुझे रुचि नहीं होती है, भगवन्। वह ध्वंसकारी काम है। मुझे सर्जन में रस है। इससे उन्हें मुझे साथ ले जाने को न कहें,

भगवन् । उन्हें बाधा होगी । वह क्षेत्र तैयार कर दें, तब बीज-वपन के समय मुझे आप याद कर सकते हैं ।"

इन्द्र ने कहा, "देखो, देवि, तुम्हारे स्वामी कदाचित् आ गये हों । उन्हें यहाँ भेज देना ।"

रति के अनन्तर कामदेव इन्द्र के समक्ष उपस्थित हुए ।

इन्द्र ने कहा, "कामदेव, किसी शंका के लिए स्थान तो नहीं है ? नारद जी कह गये हैं कि फल से अधिक बीज की ओर ध्यान देना चाहिए । कहीं अनिष्ट का बीज-वपन तो नहीं हो रहा है ? मुझे पृथ्वी की ओर से ही संशय रहता है ।"

कामदेव ने कहा, "महाराज, निश्चिन्त रहें ! धरा-लोक कामनाओं के चक्र-व्यूह में है । वह मेरा चक्र आपकी कृपा से वहाँ सफलता पूर्वक चल रहा है ।"

इन्द्र ने कहा, "मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूं, कामदेव ! लेकिन मानव में महत्-कामना मुझे प्रिय नहीं है । तुम अकेले जाकर मनुष्य में महत्-कामना की संभावना को भी जगा देते हो, इससे रति को साथ ले जाया करो ।"

कामदेव ने आश्चर्य से कहा, "हमारी कंदर्प सेना में एक से एक बढ़ कर जो अप्सराएँ हैं उन पर क्या श्रीमान् का भरोसा नहीं है ?"

इन्द्र ने हँस कर कहा, "वह वाहिनी तो स्वर्ग की विजय-पताका है । किंतु चित्त की अशान्ति शक्ति को भी जन्म देती है, कामदेव । अप्सराएँ घोर आकांक्षा पैदा करके जो मनुष्य को अशान्त छोड़ती हैं; उससे स्वर्ग को खतरा बना रहता है । पृथ्वी के लोगों को घर और परिवार देकर किंचित शांत रखना होगा । नहीं तो उद्दीप्त आकांक्षा अतृप्ति में से निकल कर कठोर तपश्चर्या का रूप जब लेगी तब हमारा आसन डिगे बिना न रहेगा । समझते तो हो न, कामदेव ?—ऊर्ध्वबाहु का क्या हाल है ?"

कामदेव ने हँस कर कहा, "टूट कर वह मरम्मत के लिये गया था । अब साबित होकर फिर उत्पात-साधना की तैयारी में उसे सुनता हूं, । देव !"

इन्द्र—"टूटे हुओं को जोड़ने का काम कौन करता है, कामदेव ?"

"ऊर्ध्वबाहु गुरु भद्रबाहु के आश्रम से पुनः साहस और स्वास्थ्य लेकर लौटा है, यह सुनता हूं, महाराज !"

"भद्रबाहु से भेंट की है तुमने, कामदेव ?"

"वह अविचारणीय है, भगवन् ! उसे निस्पृह निरीह प्राणी सुनता हूं। आसपास उसके कहीं चमक नहीं दीखती। तेज सूक्ष्म भी हो भगवन्, मेरी दृष्टि से वह नहीं बचता। तेजोगर्व की एक विद्युत-रेखा को भी मैंने वहाँ नहीं पाया है। मनुष्यों की बुद्धि पर न जाइए, भगवन्। वे तो पत्थर को भी पूजते हैं। भद्रबाहु में यदि कुछ होता तो भगवन्, मेरी दृष्टि से नहीं बच सकता था। वह तो स्थाणु है। और जैसा सुनता हूं, तनिक भी व्यक्ति नहीं है। आपके मुँह से उसका नाम सुनता हूं इसको ही मुझे लज्जा है, भगवन् !"

इन्द्र ने कहा, "कामदेव, तुम सब नहीं जानते हो। जाओ, भद्रबाहु से भेंट करके आओ और मुझे कहो।"

कामदेव सुनकर पृथ्वी पर गये और एक पक्ष के अनन्तर लौटकर इंद्र को प्रणाम किया और कहा—"महाराज, मैं लौट आया हूं। ये दिन मेरे व्यर्थ गये हैं।"

इन्द्र ने वृत्तान्त पूछा, तब कामदेव ने कहा—"मैं साथ सर्वश्रेष्ठ अप्सराओं को लेकर भद्रबाहु के आश्रम में गया था। वहाँ मुझे तपश्चर्या का कोई आभास प्राप्त नहीं हुआ। हम लोग पहले अलक्ष में ही रहे। वहाँ का वातावरण शुष्क नहीं था। आश्रम में महिलाएँ थीं, संगीत था, लता-पुष्प थे। ऋतुओं के विषय में भी हमें विशेष करना शेष न था। अन्त में मैं युवराज बना और अप्सराएँ परिचारिका बनीं, और इस रूप में हम लोगों ने प्रत्यक्ष होकर आश्रम में प्रवेश किया। वहाँ किसीको हमारे प्रति विस्मय नहीं हुआ, न वितृष्णा हुई। भद्रबाहु के पास जाकर मैंने कहा कि हम आमोद-प्रमोद के लिये वन में आये थे। सेवक लोग पीछे आने वाले थे।

इतने में तूफान आ गया और हम भटक गये। अब हमारे अनुचरों का पता नहीं है। आश्रम में हम लोगों के योग्य कोई स्थान आप दे सकें तो कृपा हो। मैंने यह भी कहा कि मेरे साथ की प्रवीणाएँ नृत्य-वाद्य-कला में विशारद हैं। गुरु ने कहा, बहुत शुभ है। सन्ध्या-कीर्तन के समय ये सुन्दरियाँ नृत्य कर सकेंगी तो आश्रमवासी तृप्त होंगे। मैंने यहाँ के समान पराग-परिधान में ही अप्सराओं को प्रस्तुत किया। उन्होंने भी वहाँ उल्लंग नृत्य का ठाठ बाँधा। भद्रबाहु विभोर भाव से सब देखते-सुनते रहे। कीर्तन के अनंतर उन्होंने मुझे कहा, 'ये गणिकाएँ तो नहीं हैं, राजन् ? भगवत् मूर्त्ति की ओर उनका ध्यान नहीं था, समुपस्थित नर-नारियों की ओर उनकी दृष्टि थी। क्या कीर्तन की मर्यादा का उन्हें ज्ञान नहीं है, राजपुत्र ?' मैंने कहा, 'श्रीमान् मैं युवराज हूँ। हम राजसी लोग हैं। क्या शुद्ध कला का यहाँ अवसर नहीं है ?' बोले—'अवसर है। किन्तु कला भगवन् निमित्त है। कल सन्ध्या-कीर्तन में आप देखियेगा।' अगले दिन कीर्तन में आश्रमवासी कुछ स्त्री-पुरुषों ने मिलकर नृत्य किया। अप्सराएँ वे न थीं, पर हम सब उन्हें देखते रह गये। मैं इस तरह एक पर एक दिन निकालता हुआ पूरा पक्ष भर वहाँ रहा। भद्रबाहु में हम में से किसी से भय न था, न अरुचि थी। सच पूछिए तो इस कारण हम में ही किंचित उनका भय हो आया। वहाँ हमने अपनी कोई आवश्यकता नहीं पाई। हमारे वहाँ रहते एक बसन्तोत्सव भी मनाया गया। मुझे आश्रम में अपने निमित्त का यह उत्सव देखकर विस्मय हुआ, किन्तु वहाँ किसी को इस अनुमान की आवश्यकता न हुई कि उस उत्सव में स्वयं ही व्यर्थ होता हुआ मदनदेव उनके बीच कहीं हो सकता है! मैं पूछता हूं भगवन्, आपने मुझे ऐसी जगह क्यों भेजा, जहाँ मेरे प्रति कोई विरोध नहीं है कि उसे जय करूँ।"

इन्द्र सुनते रहे। बोले—"तुम रति को साथ नहीं ले गये ?"

कामदेव—"जी, नहीं ले गया था।"

इन्द्र ने कहा, "कामदेव, विरोध है वहीं तुम्हारी जय है। स्वीकृति

है वहाँ तुम्हारा मार्ग अवरुद्ध है। इसीसे कहता हूं कि रति को साथ ले जाना था—लेकिन अब क्या होगा?"

कामदेव ने कहा, "स्वर्ग राज्य को भद्रबाहु की ओर से कोई चिन्ता नहीं होनी चाहिये, भगवन्!"

इन्द्र ने कहा, "चिन्ता तो है ही कामदेव! पर तुम नहीं जानते। तुम जाओ।"

कामदेव के जाने के अनन्तर इन्द्र कुछ विचार में पड़ गये। स्वर्ग में एक यही वस्तु निषिद्ध है, विचार। शची ने स्वामी के मस्तक पर रेखाएँ देखीं और नेत्र निम्न देखे तो कहा, "क्या सोच है, नाथ?"

इन्द्र ने कहा, "कुछ नहीं शुभे, मुझे नारद जी के पास जाना है।"

शची ने कहा, "आर्य, नारदजी का वास कहीं है भी जो तुम जाओगे? तुमको आज यह क्या हो गया है? विचार तो यहाँ वर्जित हैं। तुम यहाँ के अधिपति होकर स्वयं स्वर्ग-नियम का उल्लङ्घन करोगे? याद नहीं है क्या कि नारद कहीं एक जगह नहीं रहते और वे सदा स्वयं ही आते हैं, कोई उनके पास नहीं जाता?"

इन्द्र ने कहा, "ठीक है शुभे, मुझ में विकार आया है।"

"किन्तु, विकार का कारण?"

"सदा सबका कारण पृथ्वी है, शची! उस पर का मनुष्य हमें चैन नहीं लेने देता है।"

शची—"इस बार क्या हुआ है? अनेकानेक ऋद्धिधारियों की देव-सेना जो तुम्हारे पास है उसके रहते तुम्हें किस विचार की आवश्यकता है, देव?"

"ठीक कहती हो, शची! पर मनुष्य विकराल प्राणी है। जब वह कुछ नहीं चाहता, तभी वह अजेय है। नारदजी से त्राण का उपाय पूछना होगा, देवि! नहीं तो मेरा इन्द्रत्व कहीं बाहर से नहीं अंदर से ही मुझ में समाप्त हो जायगा, शची!"

शची ने कहा, "ज़रूर तुम्हें विकार हुआ है आर्य! देवता होकर

मनुष्य की-सी भाषा बोल रहे हो। केलि की भाषा हमारी है, यह ज्ञानी-सी वाणी तुम्हारे मुँह में किसने दी? क्या नृत्य-किन्नरियों को बुलाऊँ, कि तुम्हारा उपचार हो? उर्वशी, तिलोत्तमा—"

"ठहरो शची, वह वीणा सुन पड़ती है, नारदजी आते हैं।"

नारदजी के आने पर शची ने तत्काल कहा, "देवर्षि, देखिये, चिन्ता-विचार यहाँ वर्जित हैं। ये स्वयं नियमों के प्रतिपालक हैं। फिर इनको देखिये कि विचार में पड़े हुए हैं। क्या यह अशुभ और अक्षम्य नहीं है?"

नारद ने इन्द्र से पूछा—"क्या चिन्ता है, वत्स!"

इन्द्र—"सेनानी मदनदेव भद्रबाहु के पास से निष्फल लौट आये हैं, भगवन्!"

नारद ने दपटकर कहा, "स्वयं करने का काम दूसरे से करा लेगा रे, इन्द्र? ये भद्रबाहु हैं, ऊर्ध्वबाहु नहीं। सेना भेजकर संत को जीतेगा, क्यों रे, दम्भी?"

इन्द्र ने चकित होकर पूछा, "तो फिर क्या करना होगा, भगवन्?"

नारदजी ने कहा, "करना क्या होगा रे? अपनी श्रेष्ठता को अपने पास नहीं रखना होगा। इन्द्र है, स्वर्ग का अधीश्वर है, तो क्या तू ही सब कुछ है? अपने आसन को रखने के लिए भी तुझे सदा उसके ऊपर ही नहीं बैठना होगा, नीचे भी आना होगा। नहीं तो आसन से चिपकेगा, तो वही न बंधन हो जायगा, क्यों रे?"

इन्द्र ने कहा, "भगवन् मैं मूढ़ बुद्धि हूं, समझा कर कहें।"

नारदजी बोले, "बुद्धि तुझ में कहाँ है जो मूढ़ तू हो रे निर्बुद्धि? यह कैसी बात करता है। संत को अजेय समझता है? यही तो तेरे इन्द्रत्व की मर्यादा है। निस्पृह को भी स्पृहा है रे पागल! जा संत को सेवासे जीत। अभिमान रखके किसी का मान तोड़ा जा सकता है, रे। पर जिसके पास मान नहीं है वहाँ आँसू लेके जायगा तभी जीतेगा। संत की स्पृहा को तू नहीं जानता है रे मूढ़! त्रिभुवन का दर्प उसे शून्यवत् होता है और गलित मान की एक बूँद में वह डूब जाता है। यह नहीं जानता

ई रे असावधान तो ऊपर बैठ-बैठ कर अपने नीचे इन्द्रासन की भी तू रक्षा नहीं कर सकेगा। सुनता है?"

इन्द्र ने कहा, "भगवन्, यही करूँगा।"

"करेगा क्या मेरे लिये, रे? इन्द्रासन की चिन्ता होगी तो आप ही सन्तों के आगे झुकता फिरेगा। इसमें मुझसे क्या कहने चला है? मैं क्या किसी का बोझ लेता फिरता हूँ रे, मनचले?"

कहकर नारद वहाँ से चल दिये।

इन्द्र ने तब प्रसन्न भाव से कहा, "शची, आओ चलो, मानव से अपना आशीर्वाद पाने चलें।"

शची—"रति को साथ लेना है?"

इन्द्र—"नहीं, हम दोनों ही चलेंगे।"

शची मुग्ध भाव से साथ होली।

: १० :

गुरु कात्यायन

तत्ववागीश महापण्डित कात्यायन उस दिन देर रात तक सो नहीं सके। परमहंस, सन्त मधुसूदन को उन्होंने तत्त्वार्थ में परास्त किया था। किन्तु सन्ध्यानन्तर अकेले हुए तब मधुसूदन की बातें उन्हें घेरने लगीं। तब वह यत्न करके भी पूरी तरह उनसे छूट नहीं सके।

रातमें उन्होंने देखा कि शिव-पार्वती उनके घरमें आ गये हैं। घरकी दीवारें लुप्त हो गयी हैं और कैलाशके स्फटिकसे सब कहीं प्रकाश ही प्रकाश हो गया है। कात्यायन मारे डरके एक ओर हो रहे।

भगवान् शिवकी भृकुटि वक्र थी। वह पार्वती पर अप्रसन्न थे। पार्वती कह रही थीं, "तुम्हारी सृष्टि इतनी बेतुकी क्यों है जी? मधुसूदन के समक्ष कात्यायन गर्व करता है। यह अन्याय तुम किस प्रकार सहते हो?"

शिव ने कहा, "जहां अधिकार नहीं है वहाँ की चर्चा करने की आदत स्त्री हो क्या इसलिए नहीं छोड़ सकोगी? चुप रहो।"

पार्वती ने भी आवेश से कहा, "मधुसूदन को मैं जानती हूं। बेचारा भक्त गायक है। पर यह कात्यायन भी कभी तुमको या मुझको याद करता है? शास्त्रार्थ में दिन-रात रहता है, कभी तुम्हारी शरणमें आने की भी उसने इच्छा की है? अपने अहङ्कार में ही बन्द रहता है।"

शिवने कहा, "कह दिया, तुम नहीं जानतीं। इससे चुप रहो।"

पार्वती बोली, "तुम तो भोले हो, जो बरदान माँगे दे देते हो। पीछे चाहे वह तुम्हारा नाम न ले। मधुसूदन को तुम्हारी रटके सिवा

दूसरा काम नहीं है। वह अकेला माँगता फिरता है और भजन गाता है। यह कात्यायन शास्त्रों के वेष्ठनों से पार तक निगाह नहीं लाता। वेष्ठनों में शास्त्रों को और शास्त्रों में अपनेको लपेट कर वह जगद्गुरु बना हुआ है। या तो अपनी सृष्टिको मुझसे दूर रखो या अगर चाहते हो कि मैं उसपर आँख रखूँ और स्नेह रखूँ तो इस अंधेर को हटाओ। तीन नेत्र लेकर भी सृष्टि की तरफसे ऐसे सोते तुम क्यों रहते हो? ऐसा भी नशे का क्या प्रेम! कुछ व्यवस्था से रहो और सृष्टि को व्यवस्था से रखो। मैं बताओ क्या सम्हालूं। कहीं कुछ घर जैसा हो भी। न भोजन का ठीक न बसन का ठीक। धतूरा खाओगे, खाल पहनोगे, साँपका शृङ्गार करोगे, धरतीको उजाड़ोगे। मैं कहूंगी तो कहोगे कि तुम नहीं जानतीं, चुप रहो। और छोड़ो, पर यह कात्यायन जो स्त्री की निन्दा करता है, उस का गर्व गिरेगा नहीं तबतक मैं नहीं मानूंगी।"

शङ्कर बोले, "तुम नहीं समझती हो पार्वती। उसकी निन्दा में बन्दना है। आत्मरक्षा में उसकी बन्दना निन्दा का रूप लेती है। उसके गर्व में मुझे हर्ष है। गर्व काल के निकट है। स्नेह में मुझे भय है। स्नेह मे सृजन होता है! संहारमें गर्व ही ईंधन है। पार्वती, तुम दुर्गा, चण्डी, काली हो इसीसे मेरी हो। गीत गाकर तुम मेरी नही बनीं। कात्यायन जैसे संसार को बढ़ाते हैं। मधुसूदन जैसे सब हों तो जगत की मुक्ति न हो जाय? इससे सृष्टिके हितमें मैं यही कर सकता हूं कि मधु-सूदन बनने का बिरलोंको साहस हो। सब कात्यायन बननेकी स्पर्धा करें। पढ़ें और पढ़कर तर्क को पैना करें और जुबान को धार दें, इससे कि सामने कोई न ठहर सके और स्नेह जल जाय। यह स्नेह ही संहार को बुझाता है। दर्प उसको भड़काता है। ये स्नेह और भक्ति किसी तरह मिटें तो मैं सब देवताओं से कहूँ कि लो, देखो, तुम्हारी सृष्टि कैसी प्रलयमें ध्वंस हो रही है। पार्वती, ये गर्वोद्धत वाग्मी विद्वान् जगत् में सार्थक हैं, क्योंकि कलह सार्थक है। ताण्डव तो मुझे प्रिय है, पार्वती। प्रलयमें ताण्डव की शोभा है।"

यह कहते समय पार्वतीके समक्ष भगवान्‌का वही रूप आया जिसपर वह मुग्ध हैं। पर उस रूपसे वह डरती भी हैं।

शङ्करने पार्वती को मुग्ध और सभीत अवस्थामें देखा तो स्मित हास्यसे बोले—"पर क्या करूँ पार्वती, आदिमें ही मैं हारा हुआ हूँ। तुम डरकर मुझमें स्नेह जगा देती हो। यही तो है जिससे विष्णुके आगे मुझे झुकना होता है। पार्वती, भक्त मधुसूदन विष्णुकी रक्षा में है। पराजयमें भी वह रक्षित है। कात्यायन उसे जीत सकता है, पर उसे पा कहाँ सकता है ? तुम कैसी भोली हो पार्वती कि मेरे आगे होकर जो आदि देव हैं उनको अपने से ओझल होने देती और कात्यायन पर रोष करती हो। कात्यायन अधिक के योग्य नहीं है। इससे जितना मिलना है उतना तो उसे मिलने दो। जगकी मान बड़ाई से अधिक वह पा नहीं सकता। बेचारा उतनेमें अपने को भूल भी सकता है। ऐसे अभागे को मुझसे और क्यों वञ्चित करने को कहती हो ?"

गुरु कात्यायन अपनी जगहसे यह सुन रहे थे। शिवकी मुद्रा और पार्वतीकी वाणीसे उनका मन दहल गया था। अब उनको चैन न थी। सोचने लगे कि चलूँ माता पार्वतीके चरणोंमें गिरकर कहूँ कि मैं कात्यायन हूँ, माता। पण्डित नहीं हूँ, अबोध बालक हूं। पार्वतीके बाद शिवके पास जाने या उनकी ओर निहारने का साहस उन्हें नहीं था। दूरसे ही उनकी कान्तिको देख घबराहट छूटती थी। कात्यायन ने मानो उठकर बढ़ने की कोशिश की, पर अनुभव हुआ कि सब तरफ बर्फ ही बर्फ है। ठण्डके मारे हाथ पैर नहीं खुलते हैं। उनसे उठा नहीं गया, बढ़ा नहीं गया। तभी प्रतीत हुआ कि बर्फ पैरोंसे ऊपर चल रही है। धीरे-धीरे समूचे शरीरको बर्फके स्पर्श ने लपेट लिया। वह बहुत कातर हो आये।

वहींसे चिल्लाए, 'माता'। लेकिन आवाज निकली नहीं और माताने नहीं सुना। उनको संशय हुआ कि भगवान् अब प्रस्थान करनेवाले हैं। तब बहुत जोर लगाकर उन्होंने उठना चाहा। पर जाने क्या जकड़ थी कि

हिला डुला भी नहीं गया। उस समय उन्होंने बैठे ही बैठे माथा झुकाया। माथा झुका, झुका, झुकता ही गया। मानो वह अतल की ओर खिंचे जा रहे हैं। रोकते हैं पर रोक नहीं सकते। क्या वह लुढ़क रहे हैं? शायद हाँ। संज्ञा उनकी खो रही है। गिरे-गिरे और मुँह के बल कैलाशकी बर्फपर आ पड़े।

सिर धरतीमें लगा तो कात्यायन जगे। पाया कि देह सरदीसे ठिठुर रही है और वह औंधे मुँह धरतीपर पड़े हैं।

: ११ :

जनार्दन की रानी

सनातन काल में एक राजा जनार्दन थे। जब से लोग जानते थे तब से उन्हीं का राज था। उस राज से बाहर भी धरती है, ऐसा नहीं माना जाता था। अखिल भूखंड के वह एक-छत्र अधिपति थे।

राजा जनार्दन अपनी रानी से बहुत अभिन्न थे। उसी के लिये अपना जीवन मानते थे। रानी ही उनकी केंद्र थी, सर्वस्व थी, स्वप्न थी।

राजा जनार्दन को राज करते शताब्दियाँ हो गईं। जैसे अन्यथा कुछ संभव न हो, यही सनातन विधान हो। तब सब अपने कर्तव्य में रहते थे और दूसरे के अधिकार की मर्यादा रखते थे।

एक दिन राजा ने प्रधान सचिव को बुलाया। कहा—"देखो, अब हम जायेंगे। एक कल्प बीत गया। हमको और ग्रहों में जाना है। जानते हो यह राज्य किसकी शक्ति से और किसके आशीर्वाद से चलता है?"

सचिव ने कहा, "महाराज के प्रताप से!"

राजा ने कहा, "नहीं मंत्री, महारानी के श्रम और सेवा से। वही तुम सब जन की माता हैं। मैं जाऊँ तब उन्हीं के निमित्त तुम्हें रहना और उनके अनुकूल शासन कार्य चलाना होगा। हर बात में उनकी ही सुविधा सर्वोपरि मानना।"

"आप कहाँ जायँगे महाराज?"

"ब्रह्मांड अनंत है सचिव, और ग्रह मंडल अनेक। आवागमन तो लगा ही है।"

सचिव के अनंतर राजा ने रानी से कहा, "आज मैं व्योम-यात्रा पर अकेला जाऊँगा, प्रिय, चिन्ता न करना।"

रानी ने कहा, "आज न जाओ, आर्य, शुभ योग नहीं है।"

राजा हँसे, बोले, "तुम साथ चली हो तब शुभाशुभयोग का ध्यान किया गया है, ऐसा याद नहीं आता। आज क्या है?"

रानी बोली, "आर्य जानते हैं आज क्या है। आर्य इस बार लौटना नहीं चाहते हैं।"

"यह तुमने कैसे अनुमान किया, शुभे?"

"मुझसे भी अधिक प्रिय है और श्रेय है, वहीं जाते होंगे। इसी से तो आर्य आज मेरा साथ नहीं चाहते हैं।"

राजा ने कहा, "यह सच है शुभे! तुम्हारे पार भी बहुत सृष्टि है। तुम रुष्ट तो नहीं हो?"

"नहीं! रुष्ट नहीं हूँ। आर्य रहे, इससे इतनी कृतार्थ हूँ कि जा रहे हैं, इसके लिए भी कृतज्ञ ही हो सकती हूँ। मेरा हित आर्य में है, और आर्य की स्मृति मेरी संपदा है। यह निधि मुझे बहुत है। मेरा सब आर्य का ही तो ऋण है।"

राजा ने कहा, "रानी, मेरे रहते तुम अपने को दासी रखे रहीं। अब तुमको साम्राज्ञी बनना है। शुभे, इसी से जाता हूँ कि तुम अपने पद पर आओ। मुझे राजा समझा गया जब कि मैं अनुचर था। तुम दासी बनीं जब कि तुम अन्नदात्री थीं। शुभे, शक्ति की मूल तुम हो। तलवार के विजेता तो आंगन के खिलाड़ी हैं। वे ना-समझ बालक हैं। उद्दण्डता में वे तुम्हें न समझें, पर तुम अपने को समझोगी। अधीश्वरी तुम हो। यह बात मेरे रहते तुम जानने को इन्कार करती रहीं। इसीसे मुझे जाना होगा। मेरा अभाव जब तुम में खोजायगा तब तुम जान लोगी कि तुम्हीं थीं, मैं तो दिखावा था। और उस दिन कौन जाने तुममें होकर मुझे अलग होने की ज़रूरत ही न रहे। बस, शुभे! मैं जाता हूं कि तुम अपने को पहचानो और यशस्विनी बनो।"

इसके बाद राजा अंतर्धान होगये। बहुत ढूँढ़ा, बहुत खोजा। धरती नाप डाली गई, समुद्र मथ दिये गये; और आसमान भी चुका दिया गया। ज्ञात हुआ कि राजा कहीं नहीं हैं। यह ज्ञान सब में फैल गया। धीरे-धीरे करके राजा कभी थे यह भी ज्ञानी भूलने लगे। यहाँ तक कि उनके आचार्य, दार्शनिकों और ऐतिहासिकों ने ग्रंथों में उल्लेख किया कि अखिलेश कहीं कभी कोई था, प्रमाणाभाव से यह असिद्ध है। दूसरी ओर रानी यशस्विनी नहीं बनी। युग-युगान्त होगये वह अपने राजा को और अब उसकी स्मृति को लेकर दासी ही बनी हुई है।

सचिव ने अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया। शासन का दायित्व उनका था। उन्होंने पहले कहा, "महारानी, राजा गये, क्या आज्ञा है?"

रानी ने कहा, "सचिव, मुझसे पूछने की मति तुम्हें किसने दी? जिन्होंने दी होगी वह तो नहीं हैं। अब तुम्हें मेरा नहीं, अपनी बुद्धि का भरोसा है। जाओ, अपनी बुद्धि से चलो और मुझे दुःख में छोड़ो।"

अमात्य ने कहा, "महारानी, महाराज कह गये थे।"

रानी बोली—"जानती हूँ, कह गये थे। पर अपने व्यर्थ कर्म के लिए मुझे न पूछो। मुझे दुख का भोग है। शासन की ओर देखना होगा तो सचिव तुम सबको इसी क्षण बर्खास्त हो जाना होगा। तुममें महाराज की श्रद्धा नहीं, न तुम में उनकी महारानी की हित-भावना है। तुममें सत्ता का प्रेम है। उसमें मुझसे आज्ञा न लो। मेरा काम अभी शोक है। जाओ, अपने से तुम निबटो!"

जाते हुए सचिव को रोक कर रानी ने फिर कहा, "सचिव, तो तुम्हारे दार्शनिक और ऐतिहासिक खोज समाप्त कर चुके?"

"जी—"

"तो वह नहीं हैं? कहीं नहीं?"

"विद्वान् ऐसा ही विवेचन करते हैं।"

"पर तुमतो जानते हो वह थे?"

"जी, लेकिन विद्वानों से अधिक मैं कैसे जान सकता हूँ। जानने में अधिकार उन्हीं का है।"

"सचिव, तुम उनको बता नहीं सकते?"

"महारानी, वे विद्वान् हैं। यदि कहें कि मैं भ्रम में हूँ?"

"भ्रम! तुम्हारे हृदय में उनकी स्मृति है, उनके आदेश हैं। क्या वह अब सब तुम्हें भ्रम है?"

"महारानी, स्मृति धुँधली हो रही है और आदेश खो रहे हैं। भ्रम हो भी सकता है। तिसपर शोध विद्वानों की है। माननी ही होगी।"

"तो जाओ, मानो। मेरे हृदय में वह रहेंगे। वहाँ से वह न जायेंगे। तुम अपना शासन देखो और आराम देखो। मुझे दुःख में रहकर उन्हें जीवित रखना है।

"महारानी की इच्छा!" कह कर सचिव वहाँ से चले गये और शासन-कार्य में लग गये।

विज्ञप्ति होगई कि महाराज जनार्दन की मूर्त्ति, चित्र, लेख, उल्लेख जहाँ भी हैं, समाप्त कर दिये जायँ। विद्वत् परिषद् ने प्रमाणित किया है कि जनार्दन का अस्तित्व कहीं नहीं पाया गया। सत् असत् नहीं होता। इससे आज असत् है वह कभी सत्य न था। जो उस भ्रम को पोषण देंगे वह शासन की ओर से दंडनीय होंगे।

विज्ञप्ति के अनंतर विद्वत् परिषद् और शासन परिषद् की सम्मिलित बैठक हुई। निर्णय हुआ कि लोकतन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ शासन पद्धति है। दोनों परिषदों से दो-दो प्रतिनिधि चुने गये। सचिव समिति के प्रधान हुए। समिति शासन-समिति के नाम से सब सूत्रों की नियामक बनाई गई। सचिव को सत्ताधीश नाम दिया गया।

घोषित हुआ कि एकच्छत्र राजपद्धति समाप्त होगई है। विकासशील सभ्यता के लिए वह कलंक थी। यहाँ सब बराबर हैं, और लोकमत पर जिसका आधार नहीं है वह तंत्र निरंकुश है। सत्ताधीश और चार सदस्यों की शासन-समिति लोकमत की प्रतिनिधि है।

उस समय बहुतों के कंठ में प्रश्न उठा कि महारानी ? प्रश्न की क्षीण आवाज़ भी कुछ सुन पड़ी। यह आवाज़ पास से और दूर से, यहाँ से और वहाँ से, जगह-जगह से उभरी। पर वह अस्फुट रही। शीघ्र ही उसके ऊपर होकर उत्तर फैल गया कि महारानी का अस्तित्व पुरातन काल का अवशिष्ट है। शासन-समिति की विज्ञप्ति ने बताया कि रानी अपढ़ और अशिक्षित हैं। वह वहम में पली हैं और अब भी जनार्दन नाम के किसी अखिलेश के होने के भ्रम को छोड़ना नहीं चाहतीं। प्राण-विशारदों की रिपोर्ट है कि इस तरह अमर माने जाने पर भी उनके चिरायु होने की आशा नहीं है। शरीर-परीक्षकों का कहना है कि उनके मस्तिष्क में गहरी जड़ता है। विकार के चिह्न भी हैं। तो भी सत्ताधीश की ओर से उन्हें श्रम करने और जीवित रहने की प्रत्येक सुविधा है। सुरक्षा के लिए हर समय उन पर पहरा रखा जाता है। उनके सम्बन्ध में चिन्ता करने की किसी को आवश्यकता नहीं है। सदा से वह इसी हालत में रही हैं। मेहनत में उन्हें सुख है और संतोष उनका धन है। अधिक अधिकार के योग्य होने पर उन्हें वह भी दिये जायेंगे, पर अभी उसकी उन्हें आवश्यकता या शिकायत नहीं है।

रानी को सचमुच शिकायत नहीं है। मन में जनार्दन की रट रखती हैं, हाथ से नित्य नियमित काम करती हैं। कहती हैं कि "तुम कह गये हो कि मैं यशस्विनी बनूं। अब जहाँ हो वहीं तुम जानते हो कि तुम्हारे अभाव में मैं सचिवों और अंग-रक्षकों की बन्दिनी ही बन सकी हूँ। तेज था मुझ में तो तुमको लेकर ही था; तुमको लेकर ही वह प्रकट होगा। मेरा आधार अभिमान नहीं हो सकता। अभिमान का शासन जीतता नहीं, कुचलता है। मैं तो तुम्हारे प्रेम के सिवा कुछ नहीं जानती। इस प्रेम में से ही मेरे शासन का उदय हो तो होगा। तुम्हारे अभाव में मैं बिखरी हूँ, तुमको लेकर ही संकल्प में बंधूँगी। ऐंजी, कहाँ हो तुम ? सब कहते हैं तुम नहीं हो। फिर मेरे हृदय में वह क्या है जिसका ध्यान दीन होकर भी मुझे तुष्ट और बन्दी होकर भी मुझे स्वतंत्र रखता है ?"

इस भाँति शताब्दियाँ बीत गईं। लोकतंत्र का लोहयंत्र मजबूत होता चला गया। संगठन-शक्ति, यंत्र-शक्ति, प्रचार-शक्ति, विज्ञान-शक्ति के प्रकाश से जग मुखरित दीखने लगा।

उस समय भी रानी अपनी आस्था पर माथा टेके जनार्दन का नाम ले-लेकर कहती थी कि "अरे ओ, अब तो सदियाँ हो गईं। देख लिया न तुमने कि मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकती हूँ। क्या परीक्षा की अवधि अभी नहीं बीती? देखते नहीं, कि तुम्हारी रानी का क्या हाल हो रहा है? मुझे क्या अमरता तुमने इसीलिए दी थी कि मैं सब सहूँ और न मरूँ?"

ऐसे ही एक समय घोर निशीथ की बेला में किसी ने उसके भीतर कहा—"रानी, मैं आ गया हूँ। तुम पर ताले हैं। पर सब टूटेंगे। आ गया हूँ, तब तुम तक पहुँचने में मुझे देर नहीं होगी।"

रानी ने जैसे स्वप्न में कहा—"कौन? जनार्दन?"

"हाँ, जनता, मैं।"

"मेरे जनार्दन?"

"हाँ, जनता का ही जनार्दन।"

: १२ :

कामना-पूर्ति

नगर में एक महात्मा पधारे हैं। उनकी बड़ी महिमा है।

यज्ञदत्त पण्डित से हेतराम वैश्य ने बड़ाई सुनी, तो घर जाकर महात्मा की बात सुनाई। सेठानी के पुत्र न था। यों खुशहाली थी, लेकिन कुल-दीपक के बिना सब फीका था। सम्पदा किसके लिए, गौरव किसके लिए, जब कुलका नाम चलाने को ही कोई न हो?

हेतराम ने कहा, "महात्मा सिद्ध पुरुष हैं, सब मनोरथ उनसे पूरे होंगे।"

सेठानी को विश्वास नहीं आता था। कई बार दान किया और कथा बैठाई। पर वह निराश हो चुकी थी। सोचा कि यह इतना कहते हैं तो एक महात्मा और सही।

इस तरह सेठ और सेठानी दोनों ने अगले रोज महात्मा की शरण में जाने का निश्चय किया।

उधर पण्डित दम्पति को अर्थ की समस्या थी। सन्तति की दिशा में भगवान् का आशीर्वाद था—आठवाँ पुत्र गोद में था। पर कलियुग में श्रद्धा का ह्रास है और यजमानों में धर्म-वृत्ति की हीनता है। इससे कठिनाई थी।

पण्डितानी ने कहा, "कुछ प्राप्ति हुई?"

यज्ञदत्त पण्डित बोले, "क्या बतावें, भई, अब म्लेच्छों का काल

है। पर सुनो जी, नगर में एक बड़े योगिराज आये हैं। उन्हें सिद्धि प्राप्त है। उनसे दुःख निवेदन करना चाहिये।"

पण्डितानी गुस्से में बोली, "देखे तुम्हारे जोगराज! इन्हीं बातों में ये तीस वर्ष गुजार दिये। कहीं तो कोई सिद्धि विद्धि काम आई नहीं। तुम्हारे पोथी-पत्रों का क्या करूँ? कब से कह रही हूं, परचून की एक दूकान ले बैठो, तो कुछ सहारा तो हो। बड़े-बड़े अपने भगतों की बात कहते हो, कोई इतना नहीं करा सकता?"

पण्डित बोले, "लो भई, फिर वही तुमने अपना राग लिया। हम कहते हैं, महात्मा ऋद्धि-सिद्धि वाले हैं, चलकर देखने में अपना क्या हरज है? भगवान् की लीला है। कृपा हो, तो क्या कुछ न हो जाय! विपता में ही श्रद्धा की पहिचान है। भगवान् की यह तो परीक्षा है। अरे भाई, तुम भाग्य से लड़ने को कहती हो। यह तो भगवान् का द्रोह है। भला, ऐसा कहीं होता है? ब्राह्मण हैं, सो ब्राह्मण के योग्य कर्म हमारा है। दुकान-वुकान की बात परधर्म है। सुना नहीं, गीताजी में भगवान् ने कहा है:—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

पण्डितानी ने गीताजी की संस्कृत का मान नहीं किया। उन्होंने पति को खरी-तीखी सुनाई। अन्त में जैसे-तैसे तय्यार हुईं कि अच्छा कल उस जोगी-महात्मा के पास चलेंगे।

सेठानी पण्डितानी के भाग्य को सराहती थी कि घर उनका कैसा बाल-गोपालों से भरा-पुरा है। और बच्चे भी कैसे कि सब गोरे! विधाता भी अन्धा है। धन ही दिया, तो बच्चे के लिए क्यों तरसा रक्खा है? उधर पण्डितानी सेठों के हाल को तरसती थी। खिलाने को कोई पास नहीं है और अपने दो जने कैसे ठाठ से रहते हैं। न क्लेश, न चिन्ता, न कलह। मुझ पर इतने सारे खाने को आ पड़े हैं, सो क्या करूँ? एक वह हैं कि धन की कूत नहीं और पीछे झमेला भी कोई नहीं। जो कहीं धन होता और यह सब जजाल न होता, तो कैसा आराम रहता।

वहीं नगर-सेठ की कन्या थी रूपमती। नाम को सत्य करने की लाज भगवान् को हो आये, जैसे इसी हेतु से माता-पिता ने उसका यह नाम रखा था। पति उसे अपने घर में नहीं रखता था। रूपमती ने सुना कि नगर में जो महात्मा आये हैं, उनकी वाणी अमोघ होती है। परिवारवालों ने भी महात्मा का बड़ा महात्म्य सुना। सबने तय किया कि हर प्रकार की भेंट से महात्मा को संतुष्ट करेंगे और निवेदन करेंगे कि हमारा कष्ट हरें, जिससे रूपमती को लावण्य प्राप्त हो।

कांचनमाला अति सुन्दर थी। देह की द्युति तप्त स्वर्ण की-सी थी। फिर भी पति उससे विमुख थे। उसने भी सुखी के संग महात्मा के पास जाने का निश्चय किया।

सब लोग महात्मा के पास गये। महात्मा कहाँ से चलकर पधारे हैं, कोई नहीं जानता था। न उनकी आयु का पता था, न इतिहास का। वाणी उनकी गम्भीर और मुद्रा शान्त थी। सदा हँसते रहते थे।

हर संध्या को वह सब के बीच प्रवचन करते थे। विशेष बात के लिए उनसे अलग मिलना होता था। उस समय उनके पास एक व्यक्ति रहता था। वह शिष्य होगा। यथावसर वह महात्मा के सूत्रों को समझा कर बताता भी था। शेष व्यवस्था भी उसी पर थी।

सेठ-सेठानी आयें, तो उन्हें मालूम हुआ कि महात्मा के पास एक-एक को अलग जाना होगा। सो सेठ अकेले पहुँचे और दण्डवत करके कहा—"महाराज, मुझ पर दया हो।"

महात्मा मौन रहे।

सेठ बोले, "महाराज, आपकी दया से घर में सम्पदा की कमी नहीं है, पर पुत्र का अभाव है। सेठानी का मन उसी में रहता है। ऐसी कृपा कीजिए कि पुत्र प्राप्त हो।"

महात्मा हँसे, बोले, "धन जिसने दिया है, उसे दे दो और पुत्र माँग लो। पुराना लौटाओगे नहीं, तो नया कैसे पाओगे?"

सेठ समझे नहीं, तब शिष्य ने कहा, "महात्मा जी कहते हैं कि पुत्र

के लिए अपना सब धन भगवान् की प्राप्ति में लगाने को तैयार हो, तो तुम्हें वह प्राप्त हो सकता है।"

सेठ ने कहा, 'महाराज, थोड़े-बहुत की बात तो दूसरी थी। सब धन के बारे में तो सेठानी से पूछ कर ही कह सकता हूं। घर में सम्पदा है, उसी के भोग को तो पुत्र की तृष्णा है।"

महात्मा ने कहा, "भोग में नहीं, यज्ञ में अपने को दो। उससे भगवान् प्रसन्न होंगे।" कह कर वह चुप हो गये और मुलाकात समाप्त हुई।

शिष्य ने कहा, "अब आप जा सकते हैं।"

सेठ ने वहीं माथा टेक दिया। बोला—"ऐसे मैं नहीं जाऊँगा। पुत्र का वरदान लेकर ही जाऊँगा।"

महात्मा ने कहा, "बिना दिये लेता है वह चोरी करता है, इससे कष्ट पाता है। भगवान् के राज्य में अन्याय नहीं है।"

सेठ के न समझने पर शिष्य ने बताया कि अपना सब धन छोड़ने पर तैयार न हो, तो महात्मा जी की कृपा से फल पाओगे भी, तो इष्ट नहीं होगा।

सेठ कहने लगा, "महात्मा की कृपा अनिष्ट नहीं होगी, और मैं खाली नहीं जाऊँगा।"

महात्मा चुप रहे। तब शिष्य ने कहा, "सेठ जी, अब आप जा सकते हैं। महात्मा जी की अप्रसन्नता विपता ला सकती है।"

किन्तु सेठ विफल होना नहीं जानते थे। वह वहीं माथा रगड़ने और गिड़गिड़ाने लगे।

इस पर शिष्य सेठानी को अन्दर ले आया। उसे देख कर सेठ सँभल गये, और सेठानी माथा टेक कर एक ओर बैठ कर बोली—"महाराज, मुझ पर दया करो कि जिससे मेरी गोद सूनी न रहे।"

महात्मा ने कहा, "सम्पदा के भोग के लिए पुत्र चाहती हो?"

सेठानी ने प्रसन्न होकर कहा, "हाँ, महाराज!"

महात्मा बोले, "माई, भोग सब भगवान् का है। आदमी के पास यज्ञ

है। उसका धन उसे दे डालो। फिर खाली होकर मांगोगी, तो वह सुनेगा।"

सेठानी ने कहा, "देने के तो ये मालिक हैं, महाराज!"

सेठ कुशल व्यक्ति थे। बोले—"सेठानी, हम दोनों महात्मा जी के चरण पकड़ कर यहीं पड़े रहेंगे। कभी तो इन्हें दया होगी। मुख-मंडल पर नहीं देखती हो, स्वयं भगवान् की ज्योति विराजती है।" यह कह कर सेठ और सेठानी दोनों साष्टांग गिर गये और महात्मा के चरण पकड़ने की कोशिश की। पर पैर को छूना था कि झटके से उन्होंने हाथ खींच लिये। मानों जीती बिजली से हाथ छू गया हो।

सेठ-सेठानी भयभीत होकर बोले, "महाराज, हमारा अपराध क्षमा हो।"

महात्मा मुस्करा दिये। शिष्य ने कहा—"अब आप जा सकते हैं।"

सेठ-सेठानी बोले—"महाराज, हम अपराधी हैं। तो भी आपकी दया हो जाये तो—"

महात्मा ने कहा, "देगा, वही पायेगा। सब देगा, वह सब पायेगा। है, सो उसी का प्रसाद है। इसमें संतोष सच है, तृष्णा झूठ।" कह कर महात्मा चुप हो गये।

सेठ-सेठानी फिर भी हाथ जोड़ कर खड़े रहे, तो महात्मा बोले—"प्रार्थी की परीक्षा होगी—जाओ।"

शिष्य उसके बाद पंडित यज्ञदत्त को लेकर पहुँचे।

नमस्कार कर पंडित जी ने कहा—"यह नियम योग्य नहीं है कि पति को पत्नी से अलग होकर यहाँ आना पड़े। पंडितानी के बिना मैं कुछ भी निवेदन नहीं कर सकूँगा।"

महात्मा हँस दिये। तब शिष्य पंडितानी को भी ले आए। पंडितानी ने प्रणाम करके बताया कि पंडित कुछ काम नहीं करते हैं और आठवाँ बच्चा गोद में है। महाराज ऐसा जतन बताओ कि अब और बालक न हों और घर धन-धान्य से भर जाय।

पण्डित बीच में कुछ कहना चाहते थे, पर महात्मा की मुस्कराहट में कुछ ऐसी मोहिनी थी कि पत्नी की बात को वहीं तर्क से छिन्न-विच्छिन्न करने की उत्कंठा उनकी सहसा मन्द हो गयी।

महात्मा ने कहा, "भगवद् उपासना से बड़ा कर्म क्या है? ब्राह्मण का वही कर्म है।"

पण्डितानी बोली—"महाराज, मैं ही जानती हूं कि घर में कैसे चलता है। दो पैसे का सिलसिला हो जाय, तो मैं भी भगवान को याद करने का समय पाजाऊँ।"

महात्मा गम्भीर वाणी में बोले, "कुछ न पाकर अपना सब दे सको, तो सब पाजाओगी।"

पण्डितानी शास्त्रों की गूढ़ बात रोज ही सुना करती थीं। समझती थीं कि वे रीती थैली हैं। विश्वास से फूल जाती हैं, भीतर हाथ डालो तो कुछ भी नहीं मिलता। बोली—"महाराज, आये साल सिर पर एक प्राणी बढ़ जाता है। इधर ये शास्तर के सिवाय दूसरे किसी काम का नाम नहीं लेते। ऐसे कैसे चलेगा? आपका बड़ा महात्मा सुनती हूं। सो मेरा तो चोला बदल दो, तो बड़ा उपकार हो।"

शिष्य ने कहा, "धन चाहती हो?"

"हाँ महाराज, मैं कुछ और नहीं चाहती। फिर चाहें, दिन-रात ये शास्तर में रहें। मुझे कुछ मतलब नहीं। धन हो और ये बालक न हों।"

महात्मा बोले—"बालक उसी के हैं जिसका सब है। ये दे दो, वह ले लो।"

शिष्य ने कहा, "महात्माजी पूछते हैं कि बालकों को भगवान के नाम पर तुम लोग छोड़ सकते हो?"

पण्डित और पण्डितानी इस पर एक दूसरे को देखने लगे। बोले—"महाराज, बालकों को छोड़ना कैसे होगा?" और भगवान् के नाम पर उन्हें कहाँ छोड़ा जायगा?"

महात्मा बोले—"भगवान् सर्वव्यापी हैं। अपने से छोड़ना उनके नाम छोड़ना है।"

पण्डित दम्पति चुप रहे और शिष्य भी कुछ नहीं बोले। तब महात्मा ने आगे कहा—"अंगीभूत नहीं है, वह अपना नहीं है। अंगीकृत को अपना मानना गृहस्थ की मर्यादा है। पर बालक अमानत हैं, सम्पत्ति नहीं। सम्पति परिग्रह है। पाँच वर्ष से ऊपर के बालकों की ममता छोड़ो। अमानत का हिसाब दो, तब ही नया ऋण माँग सकते हो।"

पण्डित ने पूछा, "महाराज क्या करना होगा?"

महात्मा ने कहा, "तुम जानते हो, भगवद् अर्पण।"

इससे समाधान नहीं हुआ। पण्डितानी बोली—"महाराज, कष्ट हमें अर्थ का है। उसका उपाय बताइए।"

महात्मा हँसते हुए बोले, "इस हाथ दो, उस हाथ लो। भगवान् का देने में चूकने से पाने से रहना होगा।"

पण्डितानी बोली, "पहेली मत बुझवाओ, महाराज! कुछ दया हो तो हमारा संकट मेटो।" कहकर पण्डितानी वहीं रोने लगी और पण्डित भी गिड़गिड़ा आये।

उन्हें आग्रही देखकर महात्मा बोले, "जो अकेले में देगा, वह सब के बीच पावेगा। लेकिन जाओ, भगवान् देगा और परीक्षा लेगा।"

शब्दों से नहीं, किन्तु महात्मा की वाणी से दम्पति को बहुत ढाढ़स हुआ और वे दोनों प्रणाम करके चले गये।

अनन्तर रूपमती वहाँ आई। साथ के थाल को आगे सरका कर, उसने माथा धरती से लगाया। शिष्य ने रूमाल थाल पर से हटा दिया। महात्मा मुस्कराये और उसने थाल एक ओर रख दिया।

रूपमती बोली, "महाराज, मुझे सब दिया, तब ऐसा असमर्थ क्यों बनाया कि पति-गृह भी मैं मुँह न दिखा सकूँ? महाराज आशीर्वाद दीजिये कि मैं असुन्दर न रहूँ और पति को पा जाऊँ।"

महात्मा बोले, "देह असुन्दर वरदान है। क्योंकि जगत् की आँखें उस पर नहीं जातीं। तुम भाग्यवान् हो माता!"

रूपमती ने कहा, "महाराज, अपने लिये नहीं, पति के लिये रूप चाहती हूँ।"

महात्मा बोले, "पति द्वार है, इष्ट परमात्मा है। सौन्दर्य तो द्वार पर अटकाता है।"

रूपमती प्रार्थना के स्वर में बोली, "महाराज, मेरा नारी-जन्म निरर्थक है। पति विमुख हों, तब परमात्मा के सम्मुख मुझसे कैसे हुआ जायेगा?"

महात्मा बोले, "तुम भी उसी दरबार में अरदास भेजो। जिसका कोई नहीं, कुछ नहीं, उसका वह है। रखने वाला यहाँ गंवाता है। सब खो सकोगी?"

"हाँ महाराज, पति के लिये क्या नहीं खो सकूँगी। लेकिन····।"

महात्मा मुस्काये।

शिष्य अब माता-पिता को भी अन्दर ले आया।

महात्मा ने उनसे कहा, "इसके लिये तुम सब खो सकते हो?"

नगर-सेठ ने कहा, "महाराज, कितना आपको चाहिये?"

महात्मा ने कहा, "संख्या नहीं, तोल नहीं, परिमाण नहीं, उतना मुझे चाहिये। मालिक को हिसाब से दोगे? याद नहीं कि तुम बस रोकड़िया हो?"

नगर-सेठ ने कहा, "महाराज, लाख, दो लाख, दस लाख—।"

महात्मा बोले, "अरे, करोड़ों के मोल कन्या की असुन्दरता तुमने पायी है। अब लाख की बात करते हो?"

नगर-सेठ बोले, "कन्या का दुःख हमसे देखा नहीं जाता। उसकी माता—"

माता सिर झुकाए बैठी थी, उसकी ओर देखते हुए महात्माजी ने कहा, "कन्या के या तुम्हारे पास कुछ भी बचेगा, तो वही तुम्हारी प्रार्थना भगवान् के पास पहुँचने में बाधा हो जायगा।"

माता ने कहा, "महाराज की जो आज्ञा।"

महात्मा गम्भीर वाणी में बोले, "मुँह की नहीं, दर्द की प्रार्थना उसे मिलती है। दर्दी कुछ पास नहीं रखता। सब फेंक देता है।"

सुनकर नगर सेठ ने कहा, "महाराज !—"

संकेत पर शिष्य ने थाल वहीं ला रखा।

महात्मा बोले, "यह ले जाओ। जगत् की आँख की ओट में दो; और धन नहीं, अपने को दो। अपने को बचाना और धन देना अपने को बिगाड़ना है। इससे जाओ, आँसुओं में अपने को दो। अभाव सब कहीं है, भूख सब कहीं है। ले जाओ और सब उस ज्वाला में डाल दो। वही है भगवान् का यज्ञ। याद रखना, हाथ देते हों तब मन रोता हो। बिना आँसू दान पाप है। जाओ, कुछ न रखोगे, तो सब पा जाओगे।"

कन्या और उसकी माता और पिता के चित्त की शंका गई न थी। दीन भाव से बोले, "महाराज !—"

महात्मा बोले, "पाना चाहेगा, सो पछताएगा। पर जाओ, पाओ और परीक्षा दो।"

सुनकर तीनों प्रणत भाव से चले गये।

अनंतर काँचनमाला महात्मा की कुटी में आई और तनिक सिर नवा कर बैठ गयी। उसकी आदत थी कि सबको अपनी ओर देखता हुआ पाये। जैसे कुछ पल इस प्रतीक्षा में रही। फिर बोली, "महाराज, पति मुझसे विमुख हैं, मैं क्या करूँ?"

महात्मा ने कहा, "भगवान् ने तुम्हें रूप दिया। अधिक और क्या तुम्हें सहायक हो सकता है?"

काँचनमाला बोली, "रूप आरम्भ में सहायक था। अब तो वही बाधक है!"

महात्मा बोले, "बाधक है उसी को फेंक दो।"

काँचनमाला ने अविश्वास से महात्मा की ओर देखते हुए कहा, "रूप

को फेंककर मैं कहाँ रह जाऊँगी महाराज ? पति को खो चुकी हूं, इसमें तो अपने को भी खो दूँगी।"

महात्मा ने कहा, "खो सको तो फिर क्या चाहिए ? लेकिन रूप पर विश्वास रख कर अविश्वास क्यों करती हो ?"

"क्या करूँ, महाराज ! पति बिना सब सूना है। इस रूप ने उन्हें अविश्वासी बनाया है।"

महात्मा गम्भीर हो गये। बोले, "मिला है उसके लिए कृतज्ञ होना सीखो। कृतज्ञ आगे माँगता नहीं, मिले पर झुकता है !"

काँचनमाला अनाश्वस्त भाव से बोली, "मेरी बिथा हर महाराज ! नहीं तो जाने मैं किस मार्ग पर जाऊँगी।"

महात्मा ने कहा, "जाओ, पति को पाओ। लेकिन परमात्मा के मार्ग में अपने को खोकर जो पाओगी, वही रहेगा। पर जाओ और जानो।"

इसके कुछ ही दिन बाद महात्मा वहाँ से अपना आसन उठा गये।

वर्ष होते न होते देखा गया कि महात्मा के प्रसाद से सबने सब पाया है।

सेठानी को पुत्र मिला, पंडित के घर धन बरसा, रूपमती का नाम सार्थक हो गया और काँचनमाला पति को आकृष्ट कर सकी।

इसको भी चार वर्ष हो गये हैं। महात्मा का अब पता नहीं है। यहाँ सब उन्हें याद करते हैं और फिर उनकी आवश्यकता अनुभव करते हैं।

सेठजी को पुत्र मिला, पर सेठानी दूर होने लगी। मानो कोई अपरिचित उनके बीच सुख में साझी होने को आ पहुँचा है। सेठानी व्यस्त रहती है, नौकर बढ़ गये हैं। उनसे काम लेने और डाँटने का काम भी बढ़ गया है। जब देखो, वैद्य-डाक्टर की ही बात। सेठजी के सुख की व्यवस्था में भी कमी आ गयी है। सेठानी अब दूकान से लौटने पर प्रतीक्षा करती नहीं मिलती। न सुख-दुःख की बात ही उनके पास मुझसे कहने को विशेष रह गयी है। बात करेंगी, तो बच्चे की ही। बात क्या शिकायत होती है कि यह नौकर ठीक नहीं है, डाक्टर बदल दो, बच्चे की अमुक

चीज़ नहीं लाये, वैद्यजी ने क्या कहा आदि-आदि। सेठ जी घर में अकेले पड़ गये हैं।

सेठानी को स्वयं चैन नहीं है। वह रात-दिन जी-जान से विनोद की परिचर्या में रहती है। फिर भी कुछ न कुछ उसे होता ही रहता है। हर घड़ी उसे शंका घेरे रहती है। विनोद जब तक आँख से ओझल रहता है तब तक वह आधे दम रहती है। .... और फिर एक लड़का, जाने कपूत निकले कि सपूत। एक तो और हो। लड़की हो तो अच्छा। जाने महात्मा कहाँ गये? बस, भगवान् एक और दे दें।

पंडितानी रात-दिन धन की हिफ़ाजत में रहती है। बैङ्क में सूद नहीं उठता, कर्ज़ में जोखिम है। जायदाद ले लो, नहीं कुछ भर लेना चाहिये। पर पंडितजी को जाने क्या हो गया है। अँगरखे की जगह सिल्क के कुरते ने ले ली है और .... ! वह सोचती है कि क्यों यह अब सीधे मुँह नहीं बोलते? पहले दबते थे, अब बात-बात में डाँट देते हैं! सोने भी वक़्त पर नहीं आते। न घर का ध्यान है, न बच्चों का। लड़के आवारा हुए जाते हैं। धन क्या मिला, फजीहत हो गई। जाने महात्मा कहाँ गये? जो मिलें, तो इनका इलाज पूछूँ।

रूपमती पति को पा गई। पर चार साल हो आने पर भी भगवान् की जाने क्या देन है कि उसकी गोद सूनी है। उसके पति कान्तिचरण इस ओर से निश्चिन्त ही नहीं, बल्कि सन्तति को अनावश्यक मानते हैं। बालक बिना घर क्या? पर ये हैं कि इन्हें मेरे सिवा कुछ सूझता ही नहीं। कहते हैं, बालक होने पर स्त्री पति से परे हो जाती है। मैं अपने जी की इन्हें क्या बताऊँ? जाने महात्मा कहाँ गये? मिलते, तो उनकी शरण जाती।

कांचनमाला के पति ने कांचनमाला के सौन्दर्य को समझा। विमुखता उसकी हट गयी। यह सौन्दर्य ग़रीबी में कुम्हला न जाय, यह चिन्ता उसे सताने लगी। वह दिन-रात जी-तोड़ परिश्रम करता। प्रयत्न में रहता कि मेरी आर्थिक संकट की झुलस कांचनमाला तक न पहुँचे। वह रोज़

सौन्दर्य प्रसाधन की अनेक सामग्रियाँ खरीदता। वह चाहता कि कांचनमाला कंचनमयी होकर रहे। चाहे मेरा सर्वस्व लुट जाय। और वास्तव में उसका सर्वस्व लुट रहा था। यह सब कांचनमाला की निगाह की ओट में किया जा रहा था, पर कांचनमाला जानती थी। वह देखती कि पति सूखते जा रहे हैं, गृहस्थी अर्थ के बोझ से दब रही है। वह घबरा जाती और सोचती कि जाने महात्मा कहाँ चले गये? मिलते तो गर्व छोड़ कर उनसे कुछ माँगती।

सेठ-सेठानी, पण्डित-पण्डितानी, रूपमती और कांचनमाला सभी अपने प्राप्य से असन्तुष्ट थे। महात्मा का दिया अब उनकी समझ में न देने के बराबर था। वे अब कुछ और चाह रहे थे, कुछ और माँग रहे थे।

पर महात्मा नहीं आये।



: १३ :

वह अनुभव

कभी कभी होता है कि हम अपने से घिरे नहीं होते। मामूली तौर पर यह या वह हमें व्यस्त रखता है। पर चेतना की एक घड़ी होती है कि जब हम जागे तो होते हैं पर रीते भी होते हैं। उस समय जो सच आँख खोले हमें नहीं दीखा करता वही भीतर अंकित हो जाता है। जान पड़ता है कि जिन आदमियों ने किन्हीं गहरी सचाइयों का आविष्कार किया है, वह उन्होंने ऐसे ही क्षणों में उपलब्ध की हैं। स्वयं में वे हार रहे हैं और उनका अभिमान उनसे छूट गया है। उस समय मानो वे अपने को कुल का कुल खोलकर बस प्रतीक्षा में हो रहे हैं। कुछ उनको तब उलझाए नहीं रहता। उसी मुहूर्त उनके अन्तर मानस पर सचाई की रेख दीपशलाका की भांति खिंच रहती है।

सच एक जगह छोड़कर दूसरी जगह तो है नहीं। वह सब कहीं है। असल में है तो वही है। हम ही अपने-अपने चक्करों में हैं, इससे वही सच जो हम में से हर एक में है, और सब कहीं है, हमें अगोचर ही रहता है। उसमें रहकर भी हम उससे बचे रहते हैं। उसके भीतर होकर हम मुक्त ही हैं, पर अपने में होकर हम खुद ही जकड़ रहते हैं।

ऐसी ही एक बात एक दिन मन पर ऐसे अचानक प्रत्यक्ष हो गई कि उसके नीचे कुछ घड़ी को मन अवसन्न हो गया। उस स्थिति को हर्ष या विषाद नहीं कहा जा सकता है। एक प्रकार की परिपूर्णता की वह स्थिति है। मैं नहीं जानता कि शक्कर की डली यदि मधु में छोड़ दी जाय

तो उसमें घुलते हुए उसको कैसा अनुभव होगा। अपने को खोती हुई भी वह जैसे अपनी ही मिठास को अधिकता से प्राप्त करेगी। पर मैं वह कुछ नहीं कह सकता।

सन् ३० ई० में जेल गया था। पर गांधी-इर्विन समझौते से लोग बीच में ही रिहाई पा गये थे। हम कुछ लोग पाँच-सात दिन की देरी से छूटे। क्योंकि कागज़ात के दिल्ली से आने का इन्तज़ार था। जेल से बाहर निकले तो और ही हवा थी। बाहर की विस्तीर्णता पर आँख जाकर बड़ा हर्ष मानती थी। पिंजरे से निकलकर खुला आसमान पक्षी एकाएक पाये तो कैसा लगता होगा? यह दूसरी बात है कि आसमान में उसे पैर टेकने को कहीं ठौर न हो, और धरती पर भी किसी दूसरे ठिकाने के अभाव में वह फिर पिंजरे की याद करे। पर एकाएक तो मुक्त आकाश की पुकार के प्रति अपने को खोलकर अतिशय धन्य ही वह अनुभव करता होगा।

यह पञ्जाब के गुजरात की बात है। स्टेशन के पास एक सम्पन्न व्यापारी रहते थे। उनका नियम था कि जेल से निकले हुए किसी सत्याग्रही कैदी को वह सीधे नहीं चले जाने देते थे। उनका आतिथ्य लांघना असम्भव ही था। शुद्ध विनय और प्रेम का यह अनुरोध टालते भी किस से बनता। हम लोग भी पकड़े गये। हमने कहा तो कि हमें दिल्ली पहुँचना है और वहां हमारी प्रतीक्षा होगी, क्योंकि तार पहुँच गया है। पर न, किसी तरह छुटकारा न था। हाथ जोड़कर ऐसी विनम्र मुद्रा में उन्होंने अनुरोध दोहराया कि इन्कार करना उन्हें अभिशाप देना हो जाता। खैर, दिल्ली दूसरा तार कर दिया गया और हम लोग उनके मेहमान बने।

कपड़े की उनकी खासी बड़ी कोठी थी। और भी कारोबार था। परिवार भरा पूरा था। हमने देखा कि परिवार के सभी लोग हमारी अभ्यर्थना में लगे हैं। उनका स्नेह हार्दिक था। हम में एक आदरणीय बुज़ुर्ग थे। गृहपति उनसे तरह-तरह की बातें कर रहे थे। मैं पीछे बैठा हुआ संकुचित था। मेरी निगाह उस कमरे की ऊँची छत और खुली दीवारों की तरफ़ जाती थी। जेल में सैल (cell) हमारा सबकुछ था। यहाँ कमरे के बाद कमरे थे,

और उनके बाद और कमरे। इन कमरों की क़तार की ओर निरुद्देश्य-भाव से देखता हुआ मैं कुछ खो गया था। बडी दूकान के बराबर से आते हुए कई कमरे लांघ कर हम लोग ड्राइंगरूम में बैठे हुए थे। मुझे जेल की संकीर्णता के बाद इस घर की यह प्रशस्तता बड़ी मनभावनी लग रही थी। कृपणता कहीं है ही नहीं। हर कमरे में से द्वार दूसरे कमरे में खुलता है। ज़नाना हिस्सा कोठी के पीछे है और मर्दाने हिस्से में हर सुभीते और परिवार के हर सदस्य साथ के लिए अलहदगी और एकान्त है।

मैं कुछ संकीर्णता में पला हूं। वैभव का प्रसार मुझे अच्छा लगता है। ऋषि-मुनि गुहाओं में रहते थे। पर गुहा शब्द की ध्वनि में मेरे मन को प्रसाद प्राप्त नहीं होता। छोटी जगह, जहाँ से आकाश कट गया है और सिर छत से छू जाता है, जैसे वहाँ सीधे खड़े नहीं हो सकते, झुक कर ही बैठना होगा, गुहा से कुछ ऐसा लगता है। नहीं वह नहीं। खुले में मन खुलता है। या कमरा हो तो हॉलनुमा, जहां छत है तो बहुत ऊँची और दीवारें दूर दूर जैसे कि काफी आस्मान इसमें आ गया है। मैं मकान चाहता हूं, तो प्रशस्त-कक्ष और उन्नत भाल। सच तो यह है कि जिसे खुलापन चाहिए वह मकान के चक्कर में ही न पड़े। मकान वही जो घिरा है। सब ओर से घिर कर सिर्फ दर्वाजे के भीतर से वह खुलता है। नहीं कह सकता कि मेरी ऐसी रुचि में कारण क्या है। ऋषि-मुनि मुक्ति के लिए ही गिरिकन्दरा में पहुँचे। और ऊँचे-ऊँचे बड़े महल बनाकर धनाढ्यों ने और राजाओं ने अपने लिये जकड़ ही पैदा की। इससे यह कहना सही नहीं होगा कि खुले मकान में ही खुली आत्मा निवास करती है। हर्म्यों में संसारी और कुटियों में वीतरागी निवास करते सुने जाते हैं। शायद कारण कुटिया का छुटपन और हवेली का बड़प्पन न होकर, यह हो कि हवेली मुहल्ले में घिरी है और कुटी वनाकाश में मुक्त। पर वह जो हो, मुझे मकान खुला अच्छा लगता है। सदा छोटे और बन्द मकानों में रहने की वजह से तबीयत खुलना चाहती हो, यह हो, या कि उस वक्त जेल की सेल (cell) से आ रहा था, यह असल बात हो। जो हो उस बड़े घर की

विशद सुविधा पर मन जाकर उस समय बड़ा आराम अनुभव कर रहा था।

भोजन के लिए हम लोग चौके में पहुँचे। चौका पीछे कोठी के जनाने हिस्से में था। मकान के अन्दर ही अन्दर कोई आधा फर्लांग हमें चलना हुआ। रास्ते में बगीचेनुमा एक सहन पड़ा। पर उसके अतिरिक्त गैलरी के बराबर और कई कमरे मिले जो सभी सामान और साज से भरपूर थे। गृहपति साथ-साथ चल रहे थे। वह लग-भग साठ बरस की वय के होंगे। विधुर थे और पुत्र-पौत्र सब कारबार संभालते थे। शायद छः या कितने पुत्र थे। सब विवाहित और उनके बाल बच्चे थे। दो कन्याएँ भी उस समय अपनी सुसराल से वहाँ आई हुई थीं। इस तरह घर हरा भरा था। गृहपति हमारे आदरणीय साथी को यह सब बतलाते जा रहे थे।

भोजन के अनन्तर कुछ आराम किया। फिर नाश्ता आ पहुँचा। परिवार के लोगों में हमारी सुख-सुविधा की चिन्ता का पार न था। शाम को एक सभा हुई और वहाँ व्याख्यान आदि हुए। इसके बाद फिर भोजन। तदनन्तर रात को हम अपने अपने पलंग पर सोने के लिए आ गये।

हम पाँच थे। एक बड़े कमरे में हम पाँचों के पलंग बिछे हुए थे। हमारा सामान छुआ भी नहीं गया था और हर पलंग पर पूरा बिस्तर नया बिछा था।

कुछ देर तो वह वृद्ध और हम लोग चर्चा करते रहे। फिर वह उठकर अपने बिस्तर पर चले गये। उस कमरे से लगी हुई एक छोटी कोठरी थी। उनकी खाट वहीं बिछी थी।

आसपास सब सो रहे थे। मुझे नींद नहीं आई। जेल से बाहर का पहला दिन था। सब कुछ नया लग रहा था। मैं छत की ओर देखता हुआ पड़ा था। बिजली की बहुत हलकी बत्ती जल रही थी। गृहपति के सोने की जगह मेरे पास ही थी और साफ़ दीखती थी। वह रजाई ओढ़े सो रहे थे। पैर उनके सिकुड़े थे और पलंग का आधा हिस्सा भी उससे नहीं भर रहा था। तकिए पर सिर टेके बालक की नाईं वह पड़े थे।

देखते देखते सहसा एक विचार बिजली की तरह मुझे कौंध गया।

उसमें शब्द नहीं थे और तट नहीं थे। किसी प्रकार की परिभाषा उसे नहीं दी जा सकती है। विचार नहीं, उसे भाव कहना चाहिए, बल्कि भाव भी उसे क्या कहें। बिजली का क्या आकार होता है? उसकी शक्ल क्या है जिसका नाम बिजली है? ऐसे ही इस समय जो अनुभव जैसे शरीर के अणु-परमाणु को स्तब्ध करता हुआ मुझमें भीतर तक कौंध गया, नहीं जानता कि मैं उसको क्या कहूँ? कैसे कहकर उसे बताऊँ।

फर्लांगों में फैली यह बड़ी हवेली और उसके चौक और उसके बगीचे और उससे लगी बड़ी दूकानें-वह सब कुछ इस समय क्या हो गया था कि उन सब का मालिक यहाँ बराबर में पलंग पर दो हाथ जितनी जगह घेर कर असहाय की भांति पड़ा हुआ है। जिसके पास सब कुछ है, वही उस सब कुछ को छोड़कर दो हाथ भर जगह ही बस अपना सका है। बिछी खाट पर गृहपति का अस्तित्व कितने संक्षिप्त रूपमें समाप्त मालूम होता है। बस, वह तो उतना ही है। बाकी जो कुछ है सो उसका होने के लिए नहीं है। बाकी सब कुछ उससे पराया है। उसकी निजता इतने से आगे नहीं।

इस अनुभव के नीचे नहीं मालूम कितनी देर मैं आँख खोले पड़ा रहा। जाने मैं क्या हो रहा था? बात कोई बड़ी न थी। लेकिन उस रोज़ एकाएक ऐसी अपूर्व ठोकर मन को लगी कि मैं अवसन्न हो गया। साथ ही मैं कृतार्थ भी हो गया। जाने कैसा बोझ मन पर से उठकर एक ही साथ शून्य में विलीन हो गया।

बार बार स्मृति दिन में देखी हुई इस सज्जन पुरुष की समृद्धि और संपन्नता की ओर जाती थी। पुत्र हैं और पुत्रवधू हैं। दुहिता हैं, और दौहित्य हैं। नाती हैं, पोते हैं। धनधान्य और प्रेम-विश्वास से सब कुछ भरा पूरा है और हरियाला है। पर उस सबके अधिपति को सोने के लिए दो हाथ जगह चाहिए, कुल दो हाथ! यह भी तो नहीं कि पूरी खाट वह घेर सके।

उस समय मेरा मन हुआ कि उठकर बाहर जाऊँ और तारों को देखूँ और चाँद को देखूँ। ऊपर आसमान है जो चँदोए-सा तना है और जिसमें

अनगिनत तारों के फूल टंके हैं और जो सुन्न है और शान्त है, उसके नीचे जाऊँ और उसकी शून्य शांति में अपनी उस भरी हुई साँस को छोड़ दूं। वह जो अनन्त है, वही है; और मैं यहाँ कुछ नहीं हूँ। जी हुआ कि यह प्रतीति अपने से इस अनन्त आकाश की शून्यता के कण-कण में से खींच कर और रोमरोम के भीतर भरलूं और इस प्रकार अपने को धन्य करूँ। पर वह मैं नहीं कर सका और छत को देखता हुआ पड़ा रहा। लेकिन छत के शहतीर ऊपर से उड़ गये थे और ऐसा मालूम होता था कि ऊपर आस्मान ही है। खड़ी दीवारें गिर गयी थीं कि जैसे बाहर भीतर सब एक हैं। रोक कहीं नहीं है। उस समय मालूम हुआ कि मैं अलग नहीं हूँ; सब में हूँ। मैं नहीं हूँ, क्योंकि शून्य है और मैं शून्य हूँ। मैं कुछ नहीं हूँ, यह अनुभूति ही मेरा सब कुछ है।

कह नहीं सकता कि मुझे कब नींद आई थी। लेकिन यह याद कर सकता हूँ कि नींद उस दिन थकान की नहीं, आशीर्वाद की आयी थी।

आज सच है कि वह अनुभव पुराना पड़ गया है। उस पर धूल पर धूल चढ़ती जाती है। नित्य-प्रति के कामों में उसका आभास तक नहीं रहता है। अहंकार दिन की और रात की घड़ियों में हरदम सिर पर सवार रहता है। भीतर पसर कर इस या उस रूप में अभिमान आसन जमाये बैठा है। यह सच है। पर इस सबके पार होकर रह-रह कर उस दस से भी अधिक पुराने अनुभव पर मन जो जाया करता है सो क्या इसीलिए नहीं कि वह इस सबसे कहीं ज्यादा सच है। कौन जानता है कि मानव प्राणी के लिए एक अकेला सच अनुभव वही हो। शायद वही है। शायद नहीं, सचमुच वही है। जीव के पास उससे बड़ी सचाई कोई दूसरी नहीं है, कोई दूसरी हो नहीं सकती है।

: १४ :

वह साँप

एक साँप था। वह बहुत जहरीला था; पर उसको इस बात का दुःख था कि वह ज़हरीला क्यों है।

एक बार एक देव-बालक क्रीड़ा करता हुआ वन में से जा रहा था। देव-बालक को किसी अनर्थ की आशंका न थी। वह किलकारी मारता हुआ उछलता चला जा रहा था। बालक बहुत सुन्दर था। उसका पैर साँप की पूँछ पर पड़ गया।

उसकी पूँछ जो दबी, तो साँप को गुस्सा आ गया। उसने बालक को काट लिया। बालक हँसता-हँसता वहीं धरती पर लोट गया।

साँप ने जाकर उसे सूंघा। बालक की जान निकल गई थी। साँप ने देखा कि बालक बहुत ही सुन्दर था। उसका मुख अब भी जैसे हँस रहा हो। उस समय साँप को बहुत दुःख हुआ। उस दुःख में दो रोज तक उसको कुछ भी नहीं सूझा। वह बालक को चारों ओर कुण्डलाकार घेर कर बैठा रहा, न हिला न डुला; मानो वह यम के खिलाफ़ बालक की देह का पहरा देता हो। जब शनैः-शनैः बालक के मुँह पर से स्मित हास की आभा मिटने लगी और शरीर गलने लगा, तब हठात् साँप भी वहाँ से हटा।

उस समय उसने प्रार्थना की कि हे भगवान्! मेरा ज़हर मुझमें से तू निकाल ले। मैं किसी का अनिष्ट करना नहीं चाहता हूँ। मुझे गुस्सा ज़रा भी आ जाता है, तब मैं अपने को भूल जाता हूँ। मैं क्या करूँ

किसी की जान लेने की मेरी इच्छा कभी नहीं होती, लेकिन मेरा ज़रा दाँत लगता है कि उसकी जान चली जाती है। हे भगवान्, तू मेरे ज़हर के दाँत निकाल ले।

साँप की प्रार्थना सुनकर भगवान् ने उस वन में एक संपेरा भेज दिया। उसने जब बीन बजाई तब साँप सम्मुख आकर फन खोलकर खड़ा हो गया। वह फन हिला-हिलाकर उस बीन की मीठी पुकार पर अपने को दे डालने की इच्छा करता हुआ, मानों पकड़े जाने की प्रतीक्षा में मुग्ध हो रहा।

संपेरा बहुत खुश था उसने ऐसा सुन्दर, ऐसा बड़ा, ऐसा बलिष्ठ और ऐसा तेजस्वी साँप कभी नहीं देखा था।

बीन की बैन में उसे लुभा कर धीरे-धीरे संपेरे ने साँप को पकड़ कर अपने वश में कर लिया। तब उसने साँप के जहर के दाँत खींच निकाले।

साँप ने अनुमतिपूर्वक दाँत निकलवा दिए। लेकिन, उसकी वेदना में एक बार वह मूर्च्छित हो गया।

उसी मूर्च्छित अवस्था में साँप को अपनी पिटारी में रखकर संपेरा नगर को चल पड़ा।

साँप की मूर्च्छा जब टूटी तब उसने देखा कि उसका वन कहीं नहीं है। वहाँ तो अन्धेरा ही चारों ओर से घिरकर बन्द होता आया है। उसने सरक-सरक कर देखा कि चारों ओर उसके रुकावट है और खेलने के लिए कहीं भी निकलने को मार्ग नहीं हैं।

पहले तो उसने इधर-उधर फन मारे, जैसे विष निकलने के साथ-साथ उसमें से तेज भी निकल गया था। उसने कहा, हे भगवान्! यह क्या है? तुम्हारा दिया हुआ विष मैंने स्वीकार न करके तुमसे प्रार्थना की कि तुम उसे मुझमें से लौटा लो, सो क्या उसी का यह दंड मुझे मिला है कि विष के साथ मेरी सामर्थ्य भी मुझमें से खिंच जाय? हे भगवान्! यह क्या है?

अगले दिन बहँगी पर टांग कर संपेरा नगर में साँप का तमाशा

दिखाने को चला। साँप के घर पर से जो ढकना खुला तो उसने प्रसन्नता मे सिर ऊपर उठाया; किन्तु बाहर बीन बज रही थी; इसलिए उसका उठा हुआ फन हिल ही कर रह गया और प्रसन्नता अपने शैशव में ही मुग्ध हो पड़ी।

जब उसको बाहर निकाला गया, तो वह यह देखकर चकित हो गया कि चारों ओर से उसे घेर कर बहुत से तमाशाई लोग खड़े हैं। विस्मय के बाद इस पर उसका मन क्रोध से भर आया। उसने जोर से फुफकार मारी, फन फैलाया और क्रुद्ध आँखों से चारों ओर देखा।

उसकी इस चेष्टा पर चारों ओर खड़े लोगों में से कुछ बच्चे तो चाहे डरे हों, पर सबको इसमें कुतूहल ही मालूम हुआ। यह देखकर साँप ने धरती पर पटककर अपने फनको और भी चौड़ा कर ऊँचा उठाया, और, और ज़ोर की सिसकारी छोड़ी।

किन्तु दर्शकों का कुतूहल इससे कुछ और बढ़ कर ही रह गया, आतंक उनमें तनिक न उपजा।

साँप ने देखा कि उसकी तेजस्विता का तनिक भी सम्मान लोगों में नहीं है! इस पर क्षोभ उसके भीतर बल खा-खाकर उभरने और झुरने लगा। वह क्षोभ उसे ही खाने लगा। अशक्त, निरुपाय, भीतर-ही-भीतर जल कर विक्षुब्ध, तब वह वहीं अपनी पूँछ में मुँह छिपाकर, आँख मूँद धरती पर लोट गया। वह न जग को देखना चाहता था, न दीखना चाहता था। व्यर्थता की अनुभूति से उसके प्राण मानों अपने आप में ही सिक-सिककर, भुन-भुनकर सूखते जाने लगे।

तभी उसकी पूँछ पर जोर की चोट दी गई। उसने तिलमिला कर सिसकारी के साथ अपना फन उठाया। वह फन सदा की भांति प्रशस्त और भयानक था, किन्तु उसने देखा कि भगवान् का भेजा हुआ, वह सपेरा बीन को अभी अपने मुंह में लगाकर उसे बजा उठा है। और देखा कि वही है, जो चाहता है, कि वह (सांप) चारों ओर एकत्र हुए लोगों को अपने निष्फल, निर्वीय आवेश का प्रदर्शन करके दिखाए—हाय!

यह समझकर साँप ने अपना मुंह फिर पूंछ में दुबका लेना चाहा, ताकि वह धरती से चिपटा पड़ा रहे; किन्तु संपेरे ने उसके शरीर पर चोट-पर-चोट दी। पराजित, परास्त मुंह दुबकाए लेटे रहने की भी तो लाचारी उसके पाले न रहने दी गई। नहीं, उसे फन उठाना होगा, वही फन जो कभी भयंकर हो; पर अब खिलौना है, जिससे लोग उसके निस्तेज सौन्दर्य और व्यर्थ क्रोध को देखकर बहलें और संपेरे को पैसे दें।

साँप ने अन्त में एकत्रित समूह का मनोरंजन किया ही। इसके सिवाय उसे कहीं भी चारा नहीं मिला। लोगों को सन्तुष्ट करके, हारा, थका, जी में संतप्त और त्रस्त जब वह अपने घर में बन्द हुआ, तब उसके ऊपर सँपेरे के मुंह से लगी बीन बज रही थी। और उसके भीतर में उठ रहा था कि हे भगवान् !

इसी भांति वह सुन्दर वन्य सर्प अपना ज़हर खोकर, क्रोध में जलकर, निष्फलता की अनुभूति में घुलकर शिथिल, निष्प्राण, निष्परिणाम मृतप्राय होता चला गया। तब तक, जब तक मौत उसे छुटकारा दे।

'तो क्या विष ही मेरा बल था?' साँप सदा सोचा किया, और कहा किया—हे भगवान् !



: १५ :

दर्शन की राह

जिनकी यह बात कहता हूँ उनका नाम आप न जानते हों, यह कम सम्भव है। यह भी आप जानते ही होंगे कि उनका एक ही उपदेश है कि मौतको सामने लो। स्थान-स्थान इस आदेश की घोषणा के अतिरिक्त मानों उनके लिए और कुछ नहीं है।

मृत्यु कोई प्रिय वस्तु तो नहीं है, पर उनके अन्दर चाव है। वह क्या?

वही एक दिन मैं पूछ बैठा। (मुझपर उनकी कृपा है और स्नेह है)। पूछा—क्या मौतको चाहना होगा?

बोले—"नहीं। पर उद्यत तो रहना ही होगा। स्वेच्छित मृत्यु मुक्ति है। मृत्यु का चित्र हमें सदा प्रत्यक्ष रहे तो क्षुद्रता में हम न गिरें।"

जैसे उस विषय पर उनका मन सदा भरा रहता है। हल्कीसी कोई छेड़ मिलनी चाहिये। फिर तो वह फूट ही चलते हैं।

मैंने कहा कि मृत्यु का दबाव हमारे मनपर हर घड़ी बना रहे तो क्या इससे उस मनके विद्रोही हो पड़ने की आशंका भी न हो जायगी? मैं तब सोच सकता हूँ कि आगे मौत ही तो है ही, फिर क्या तो विवेक और क्या अविवेक? मनका अंकुश इससे ढीला भी तो हो सकता है न?

खिन्न भाव से वह बोले कि, "हाँ, हो भी सकता है। पर मुझे उससे लाभ हुआ है। जो न झेल सके उसे उस दर्शन से बचना चाहिये। लेकिन सच्ची शक्ति सदा झेलती है। मौत से आँख बचावें तो लगायें कहाँ? अन्त में निषेध ही सत्य है। ईश्वर नेति है। ड्राइंग रूम की सजावट को अच्छे

चारों तरफ लपेटकर कोई आश्वस्त नहीं रह सका। जो आवरण और परिधान हमने खड़े किये हैं उन सबको पारकर मृत्यु हर समय हमारे तनको छूये रहती है। सो ही हमारा जीवन है। जगत् मृत्यु के वरदानपर मुखर है। वर्तमान का हर पल चुककर भूत होता जा रहा है। कहाँ जाकर तुम आँख मींचोगे? तुम तुम्हीं नहीं हो। तुम बाप हो, भाई हो, पुत्र हो, पति हो। सम्बन्धियों के सम्बन्धी हो। उन सम्बन्धियों के बीच तुम्हारी सम्भावना है। वे सम्बन्ध बन्धन न बनें, इससे वे जुड़ेंगे और टूटेंगे। तुम समर्थ होओ, इस हेतुमें तुम्हारे माँ बाप मरेंगे। शावक उड़े, इसके लिए खोल को टूटना होगा। बीज मरकर वृक्ष उगायगा। हमें जन्म देकर माता-पिता मृत्यु की तरफ बढ़े—हम जन्म स्वीकार करके इसे उचित मानते हैं। इसी में मृत्यु की प्रतिष्ठा है। जीवन प्रपञ्च है और भूल है, यदि उसकी मृत्युपूर्वकता का भान हमें नहीं है। मृत्युपूर्वक वही सुख दान है।....मैंने यह शुरू में नहीं समझा। मौत अपनी नग्न सज्जा में मुझ तक आयी। वह आयी थी मुझे विशद करने, पर मैं सँकुचा। मैं सिमटा और उसे टाला। उस सम्पद को विपद मान डरके मारे मैं चिपट बैठा उससे जो प्राप्त था। इसी में वह प्राप्त मुझसे विमुख होकर खो गया। मृत्यु के द्वार से वह अनन्त में लुप्त हो गया। तब एकाएक मैंने जाना कि उस मृत्यु के द्वार से ही प्राप्य प्राप्त है। अन्यथा, प्राप्त मात्र प्रवंचना है। आज उस अनन्त के द्वार से मैं देखता हूँ तभी सत्य प्रतीत होता है। नहीं तो सब माया है। इसी से कहता हूँ कि मृत्यु द्वार को जीवन-यात्रा में सदा सम्मुख रखो। तब सब तुम्हारे लिए सत्य है, शिव है, सुन्दर है। नहीं तो.........।"

मैंने देखा कि कहते-कहते वह कहीं और पहुँच गये हैं। अन्त में सहसा ठिठककर वह मुस्कराये। करुण मुस्कराहट। मानों अपने लिये भी उनके पास करुणा ही है।

मैं उन्हें देखता रह गया।

बोले—"क्या देखते हो? सुनना चाहते हो?"

मैं और क्या चाहता था ?

बोले—

(१)

विवाहके शीघ्र ही बाद पत्नी मैके चली गयी। तुम्हारे यहाँ भी गौनेका तो रिवाज है न ? विवाह के बाद कुछ काल का अन्तर डालकर द्विरागमन होता है। सो विवाह के अवसर पर तो मानों खुलकर भेंट भी न हो सकी। भली-भांति तब मैं उन्हें देख भी पाया, इसमें सन्देह है। मंगलाचार की ऐसी कुछ धूम-धाम रही। बहनें थीं और पड़ोस की भाभियाँ थीं। उनके कारण बहू की इतनी पूछताछ हुई कि वर की याद ही न रखी गई। और गिनती के ये तीन-चार रोज बीतते न बीतते सुसराल से उनके भाई लिवाने आ गये। वह चली गयीं।

उस काल मैं अकेला था। अकेले यानी केन्द्र-हीन। मन में बहु-त बहुत आकांक्षाएँ थीं। आकांक्षाएँ किशोर। जी उमगा आता था। मानों भीतर से एक वैभव उछाह में हिलोर लेता फुहार में फूटकर किसी के आगे झर पड़ना चाहता था।

पर किसके आगे ? अपने भीतर की भावना की विपुलता को किसके समक्ष लाकर लुटा दूँ। और अपने को धन्य करूँ, यह समझ में न आता था। माता से अनायास दूर पड़ता जाता था। अपने को अब शावक नहीं बल्कि समर्थ पाना प्रिय लगता था। जी होता था—पर क्या जी होता था ? जैसे किसी को आश्रय में लूँ और अपने भुजदण्ड के बल पर समूचे विश्व के विरोध में उसकी रक्षा करूँ। जो मेरे द्वारा रक्षणीय हो और प्रार्थनीय भी हो। मुझसे निर्बल, पर स्वामिनी। जिसके आगे मैं अपना समूचा बल और समूची प्रभुता अर्घ्य की भांति विसर्जित करके सार्थक करूँ।

पर वह ऐसा कौन ?

मैं द्विरागमन के लिए रेल में बैठा जा रहा था और मन में देख रहा था, मेरी पूजा की वह वेदी अब अधिक काल अनभिषिक्त न रहेगी। उसके

अभिषेक का अवसर आ पहुँचा है। स्वप्न उमड़-उमड़ कर आते थे और आंसू की भांति उस वेदी को धो जाते थे।

आखिर दिन आया। छोटी रेल, छोटा स्टेशन, सेकिन्ड क्लास के रिजर्व डिब्बे के एक कोने में घूंघट के भीतर वह बैठी थीं और खिड़की पर होकर प्लेटफ़ार्म पर खड़े उनके आत्मजनों को मैं प्रणाम कर रहा था।

गाड़ी चल दी। प्लेटफार्म धीमे-धीमे पार हो गया। मैं हठात् खिड़की पर खड़ा रहा। मुझे डर लग रहा था, खिड़की से हटकर कम्पार्टमेंट के अन्दर जाकर बैठना मुझसे कैसे बनेगा?

खिड़की पर मैं खड़ा ही रहा, खड़ा ही रहा। बस्ती के मकान निकले, बाग निकले, अब खेत आ गये। आखिर मैं खिड़की से हटा।

घूँघट कम हो गया था। साड़ी की कोर माथे तक थी। रूप पर आपने तो कवियों की कविता पढ़ी है, वैसा ही कुछ समझिये। उन्होंने मेरी ओर देखा। उन आंखों में क्या था?

मैंने बढ़कर कहा, "जरा उठो, बिस्तर बिछा दूँ।"

वह बोलीं नहीं।

"बिस्तर से आराम रहेगा।"

फिर भी वह नहीं बोलीं। कुछ पूछती सी आँखों से मुझे देखती रहीं।

"उठो न ज़रा।"

"ठीक तो है। मुझे नहीं चाहिए।"

पर इतने में तो मैंने ऊपर से बिस्तर उतार लिया था। मैं उसे खोलने लगा।

सहसा उठकर उन्होंने मेरे हाथ को वहां से अलग कर दिया। बोलीं-"मैं यह सब कर लूँगी। तुम बैठो।"

मैंने कहा, "मैं बिछा तो दे रहा हूं। तुम रहो न।"

पर मेरा पौरुष न चला। उन्होंने नहीं माना, नहीं माना।

बिस्तर बिछा दिया और बोलीं, "बैठो।"

मैंने कहा, "मैं तो उधर दूसरी तरफ बैठ जाऊँगा। तुम आराम से लेट सकती हो।"

"उधर मैं बैठी जाती हूं।" कहकर वह दूसरी बेंच पर जाने को उद्यत हुईं।

उस समय मैं हार न मान सका। उनको हाथ से पकड़कर बैठाते हुए मैंने कहा, "यह क्या बैठो भी।"

बैठ तो गयीं, लेकिन बैठते-बैठते उन्होंने जोर से मेरे कोट का छोर पकड़ लिया। कहा, "तुम भी बैठो।"

लाचार मैं पास बैठ गया। बैठ तो गया लेकिन अब ? उस समय शब्द क्षुद्र हो गये और भाषा ने मौन का आश्रय लिया। कुछ क्षण आँखों ही आँखों में रह गये। उस दर्शन में अमित भाव था। दो व्यक्तियों के बीच की अथाह दूरी आँखों की राह मानों पल में पार हो गयी। अब क्या शेष था !

........मालूम हुआ वेदी का अभिषेक सम्पन्न हो गया। स्वप्न अब उड़ने की आवश्यकता में नहीं हैं। वे सब पंक्ति बांध टप टप टपक पड़ने को उद्यत हैं कि किसी के चरणों को छू सकें। उनकी स्पर्धा भक्ति में अब सार्थक हो आयी है। वायव्य से अब तरल बनकर मानों स्वप्न स्वयं अपने को पाते जा रहे हैं।

मैंने कहा, "सुधा सो जाओ।"

"मैं ? मैं तो ठीक हूं। लो, तुम लेट जाओ।"

कहने के साथ ही वह पीछे सरक गई, ऐसे कि मैं लेट सकता हूं। और हां, कोई बात नहीं जो सिर गोद में आ जाय। नहीं नहीं, उसमें कोई हरज नहीं है।

मुझे बैठा का बैठा देख बोली, "लेट न जाओ। अभी बहुत सफर करना है।"

मैंने हँसकर कहा, "सफर मुझे ही करना है। तुम्हें तो कुछ करना धरना है ही नहीं।"

बोली, "मेरा क्या है, पर तुम लेटकर थोड़ी नींद ले सको तो अच्छा है।"

मैं अबोध, मुझे कुछ नहीं सूझा। और देखता क्या हूं कि मैं लेट गया हूं और मेरा सिर उन्होंने आराम से गोद में ले लिया है।

हठात् मैंने आँखें मींच लीं। चाहा कि सोऊँ, पर नहीं कह सकता कि मैं सो सका। फिर भी आँख मेरी मुँदी रही और मैं जागते सपने लेने लगा।

....पर यह क्या? झटका कैसा? गाड़ी एकदम रुकी क्यों? सिगनल न हुआ होगा। लेकिन नहीं कुछ और बात है।

मैं उठा। उठ कर झांका। देखता हूँ कि लोग उतर रहे हैं और एक तरफ बढ़े जा रहे हैं। जिधर जा रहे हैं वहां चार-पांच आदमियों का झुंड-सा खड़ा है। बात क्या है।

जाने आदमियों से मैं पूछने लगा—"भाई क्या बात है?"

पहला आदमी तो बिना बोले तेजी से आगे बढ़ गया।

फिर दूसरे से पूछा—"क्यों भई, क्या है?"

"क्या मालूम?"

तीसरे से—"क्यों भई, है क्या?"

"रेल के नीचे कोई आ गया सुनते हैं।"

ओः, यह है! मैं अपनी जगह आ बैठा। चलो, होगा कुछ। यह तो रोज की बात है। पर रेल यहां देर कितनी लगायेगी? चलती क्यों नहीं? मुझे बुरा मालूम होने लगा कि गाड़ी इतनी मुद्दत ठहरी क्यों है?

सुधा ने पूछा—"क्यों, क्या हुआ?"

जैसे हठात् अपने सिर से कुछ टालते हुए मैंने कहा—"होगा कुछ, तुम्हारी छोटी लाइन है, जो न हो थोड़ा है।"

जवाब देकर मैंने चाहा कि गाड़ी चल पड़े और मैं इधर उधर की कोई बात सोचने को खाली न रह जाऊँ।

इतने में सुधा खिड़की से बाहर होकर झांकने लगी। बोली—"सब लोग जा रहे हैं। जाकर देखो तो क्या है।"

मैंने अपने विरुद्ध होकर कहा कि "होगा कुछ, छोड़ो भी।"

सुधा इस पर कुछ न बोली और बाहर की ओर ही देखती र ी।

मैं डिब्बे के अन्दर लगे हुए रेल के नक्शों को आंख बांध कर देखने लगा। जैसे मुझे मनको किसी भी दूसरी तरफ नहीं जाने देना है।

"अरे, उसे उठाके लाओ न।"—यह कुछ ऐसी बानी में कहा गया कि मैं चौंके बिना न रहा। सुन कर मैं खिड़की पर पहुँचा और बाहर देखने लगा। कई आदमी एंजिन की तरफ से हमारी तरफ एक आदमी को उठाये हुए आ रहे थे। वे पास आये, कि सुधा ने अपने मुँह को हाथों से ढँक लिया और बैंच पर औंधे मुँह पड़ गयी। जो देखा वह दृश्य उसे असह्य हुआ। मेरी तो आंखें उस पर गड़ रहीं।

साठ से ऊपर उमर होगी। देह से क्षीण। आँखें खुली थीं। सांस तेजी से आ जा रहा था। वह इधर उधर भौचक्का सा देख रहा था। उसकी एक टांग जांघ के पास से कटकर बिलकुल अलग हो गयी थी। वहां से गोश्त के छिछड़े लटक रहे थे और खून बह रहा था। कटी टांग को एक आदमी अलग हाथ में उठाये हुए आ रहा था।

वह बुड्ढा उस अपनी कटी टांगकी तरफ देखता और फिर अपने को ले जाते हुए उन आदमियों की तरफ देखता। जैसे उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मेरे सामने से वे उस आदमी को ले गये। उतर कर मैं भी उसके साथ हो गया। पीछे मालगाड़ी का डब्बा था, उसको खोला गया।

गार्ड ने कहा—"जल्दी करो जल्दी, गाड़ी लेट है।"

लोगों ने झुलाकर बुड्ढे की लोथ को डब्बे तक पहुँचाया। बुड्ढा अभी जीता था। दर्द के मारे वह कराहा और चीखा।

"जल्दी करो, जल्दी। अरे उसको पीछे की तरफ धकेलो और पीछे। गाड़ी लेट है।"

उस शरीर में मानो इच्छाशक्ति नहीं रह गयी थी। सिर जिधर होता

उधर ही लटका रह जाता था। खैर, धकेल कर उसे ज्यों-त्यों पीछे किया गया।

"बन्द करो, दरवाजा बन्द करो।"

लोग मालगाड़ी के डब्बे के लोहे के दरवाजे बन्द करने लगे।

"ओह, तू यहां खड़ा है! यह टांग उसके साथ नहीं रखा? टांग भी उसमें रखो।"

दरवाजा फिर खुला और वह टांग बुड्ढे के पास फेंक दी गयी। वह कटी टांग बुड्ढे के सिर के पास जाकर लेट गयी।

लहू से कपड़े और डब्बे का फर्श लाल हो गये थे। पर बुड्ढे की जान निकली न थी। वह अब कराह नहीं रहा था, न चीखता था। वह मानो अचरज से हम जीते हुओं को देख रहा था। और उसी भाव से अपने ऊपर बन्द होते हुए लोहे के दरवाजे को वह देखता रहा।

आसपास जमा हुए लोगों को गार्ड ने कहा—क्या यह तमाशा है? चलो चलो, गाड़ी लेट है।

कहकर वहीं से उसने गाड़ी चलने की सीटी दी।

मैं अपने डब्बे में आ गया। बुड्ढा मालगाड़ी के ढकनेमें उचित ढंग से बन्द हो गया था। ऊपर ताला जड़ गया था। गाड़ी लेट पहले से थी, अब वह चल दी।

स्टेशन आने पर कुली बुलाया गया, ताला खोला गया, माल के डब्बे से बुड्ढे को खींचकर उतारा गया, एक आदमी साथ टूटी टांग लेकर चला। और बुड्ढा अब तक बराबर जीता था, और देख रहा था.......।

फिर डब्बा धुल गया। सफाई हो गयी। दाग़ कहीं नहीं छोड़ा गया। हुई बात बीती और गाड़ी स्टेशन से चल दी।

उस समय मैंने क्या किया? सुध खोई रही तब तक खोई रही, अंत में सुध पाकर वह सब बिसार देने की मैंने कोशिश की। मेरे पास सुधा थी, दूसरे दर्जे का रिजर्व डब्बा था। फिर मैं उस टांग कटा लेने वाले बेहया बुड्ढे की याद पर किस भांति क्षण-भर भी रुक सकता था? अनिष्ट

को भूल, इष्ट को ही मैंने याद रखा और उसी ओर मुँह फेर कर कहा—
"सुधा........"

लेकिन क्या तुम समझते हो कि ऐसे सहज बचना हो सकता है ? हम अपने में बन्द नहीं हो सकते। जगत-घटना से बचकर कोई कहाँ जायगा ? और भोग से अधिक सत्य है मृत्यु। भोग में होकर क्या मृत्यु को भुलाया जा सकता है ? जीता जा सकता है ? पर मैंने वही चाहा और वही किया—

जगत्-सत्य से आँख मींच लेनी चाही और हाथ के सुख को चिपटकर पकड़ लेना चाहा। लेकिन क्या हुआ ? देखा, तो हाथ खाली था। उसकी पकड़ में कुछ न आया था। और जिसे बचाया था वही आग का शोला बनकर सदा के लिए आँख में समा गया। वह एक चेतावनी थी जो मुझे सदा को चेता गयी। मेरा सब चला गया। सब उजड़ गया। लेकिन एक सीख मिल गयी।

(२)

अरे भाई, सब तुम्हें क्या सुनाऊँ ? छोड़ो छोड़ो, उसमें कोई खास बात नहीं है।

घर की स्थिति बुरी न थी और मैं जवान था। सो रंग-राग में मैंने अपने को डुबा दिया। लेकिन आदमी क्या अपने को सचमुच डुबा तक सकता है ? ऊपर जो तारनहार है। वह सहायक हो तो डूबता भी तिर आता है।

सुधा जाने क्या चाहती थी ? अनुपम सौंदर्य पाकर मन उसने फिर ऐसा तरंगहीन क्यों पाया था ? मैंने अपनी सारी आकांक्षाएं उस पर वार दीं। पर जैसे वह मुझे रामके आदर्श में रखकर देखना चाहती थी। उसका अपना मन सीताजी में था। उसके संस्कार मुझे पतिरूप में स्वीकार करते थे। पति तो देवता ही है। पर जैसे मैं स्वयं मैं होकर उसकी निगाह से ओछा ही रह जाता था। मेरे समर्पण में उसे राग न था। मालूम होता था कि जैसे वह मुझे कुछ अन्य देखना चाहती है। मानों मुझे देवता

पाना चाहती है। इसीसे मुझे कभी अनुभव नहीं हुआ कि मैं उसे पा सका हूं।

जगत के बहुमूल्य उपहारों को दिखाकर मैंने कहा, "सुधा, लोगी?"

मानों सुधा कहती, "मैं दासी हूं। जो स्वामी की इच्छा।"

मैं कहता, "तुम यह क्यों नहीं जानतीं कि तुमने अप्सरा का सौन्दर्य पाया है, सुधा?"

मानों सुधा कहती, "मेरा काम सेवा है, मुझे लजाओ मत।"

मैंने चाहा कि उसमें अनुराग हो, लेकिन उसमें विराग ही आता चला गया। और मेरी आंखों ने देखा कि उस निस्पृह भावके संयोग से उसके सौन्दर्य में कुछ ऐसी भव्य शोभा आती चली गई कि मैं अपने तईं हीन लगने लगा। हीरा-मोती के आभरणों से साग्रह सजाकर मैं उसे देख सकता तो वह मुझे पास भी जान पड़ती, जैसे वह सौंदर्य प्राप्य भी हो। लेकिन नीची आँखसे काम करती हुई सफेद धोती में जब मैं उसे देखता—और यही उसकी रुचिकी वेषभूषा थी—तब मैं मनमें सहमकर रह जाता था। अलंकार-आभरण से हीन उसका शुचि-सौन्दर्य मुझे ऐसा विरल जान पड़ता कि अप्राप्य। इच्छा होती कि सदा वह रंग बिरंग साड़ियां पहने रहे कि मुझे ढारस तो हो कि वह हम सबके निकट है; नहीं तो वह दूर दूर, दूर कहाँ चली जा रही है कि ज्ञात नहीं! मालूम होता था कि जिस धरती पर मैं हूं उससे वह उड़ती जा रही है। अरे, कहीं एकदम ही उठ न जाय! तब मेरा क्या हाल होगा?

सुधा ने एक रोज कहा, "तुम मुझे इतना प्रेम क्यों करते हो? शरीर तो नाशवान है।"

मैंने कहा, "नाशवान कुछ नहीं है। वह शब्द मुँहसे न निकालना।"

बोली, "उस बुड्ढे को भूल गये? सबकी काया में वही है। मांस है, रुधिर है, वहां कोई सौंदर्य नहीं है।"

मैंने कहा कि सुधा, "तुम ऐसी बातें न किया करो। वे क्या तुम मुंह के लायक हैं?"

कुछ रुककर वह बोली, "तुम्हें फिर अपने काम धंधेका क्यों खयाल नहीं है ? माँ कितनी चिंतित रहती हैं, जानते हो ?"

सुनकर मैं उसकी तरफ देखता रहा। जतलाया कि जानता हूं।

"क्या देखते हो ? मेरी ही वजह से तुम घर को चौपट किये दे रहे हो न ?"

"हाँ"—मुस्कराता हुआ मैं उसे देखता रह गया।

सुधा गुस्से में बोली, "तुम हंस सकते हो। पर तुम्हारी हँसी मेरे लिए क्या फल लाती है, यह क्या तुम अबतक नहीं जान पाये हो ?"

मैंने कहा, "सच सुनना चाहती हो सुधा ? तो सुनो; पैसा जबतक सब न चला जायगा मैं सीधी राह पर न आऊँगा। पैसेकी राह टेढ़ी है। पैसा है तो मैं सीधे कैसे चल सकता हूं, तुम्हीं कहो ?"

सुधा ने गौर से मेरी ओर देखकर कहा, "यह क्या कह रहे हो ?"

मैंने कहा, "सुधा, सब भूल जाओ। कर्तव्य को क्यों याद करती हो, जबतक सुख सामने है ? मुझे कर्तव्य की याद न दिलाओ। मुझे कष्ट मत दो। सुधा, मेरी सहायता क्यों नहीं करती हो ? आओ, मुझे सब भूलने में मदद दो।"

सुधा ने कहा, "यह तुम्हें क्या हो गया है ?"

मैंने कहा, "सुधा, मैं शरीर के भीतर की बात नहीं देखना चाहता। भीतर आत्मा है, यह जानने तक भी नहीं ठहरना चाहता। क्योंकि भीतर आत्मा तो पीछे होगी, पहले तो हाड़, मांस और रुधिर है। उस बुड्ढेको हमने देखा तो था। इससे उस शरीर से इन्द्रिय द्वारा प्राप्त होनेवाले लावण्यतक ही हम बस करके क्यों न रहें ? इसीसे सुधा, मैं चाहता हूं कि तुम कर्तव्य का ध्यान चाहे छोड़ दो लेकिन अपने रूपके ऐश्वर्य को समझने लग जाओ। तुम रूपगर्विणी बनो न। ऐसी बनोगी तो मुझे भी अपने विजयगर्व का सुखलाभ होगा।"

सुधा मेरी बातों को सुनती रही, बोली, "ऐसे कबतक चलेगा ?"

मैंने कहा, "जबतक भी चल सके तभी तक बहुत है।"

सच यह है कि सुधा के विषय में मुझे इधर ढारस कम होता जा रहा था। वह देवदुर्लभसी बनती जाती थी। जाने आगे क्या हो? जबतक किंचित् भी उसमें मानवी है तबतक अपने ही हाथों अपना सौभाग्य मैं क्यों कम करूं? यह भी मुझे प्रतीत होता था कि मेरे इस मोह के कारण सुधा में मेरे प्रति अनुरक्ति बढ़ती नहीं है। उत्तरोत्तर ऐसा लगता था कि मानो वह अब छूटी, अब छूटी। मानों अपने मोह के कारण ही उसके मनसे मैं उतरता जाता था और वह जैसे उसी के जोर से निर्मोह की ओर बढ़ती जाती थी।

परिणाम यह हुआ कि परिवार का काम-धंधा डूबनेपर आगया। सुधा ने मुझे बहुत चेताया। कहा, "माँ क्या कहती हैं, जानते हो? कहती हैं कि मैं चुड़ैल हूं, जिसने तुम पर जादू किया। तुम आंख खोल कर देखते क्यों नहीं हो कि इस घरमें मेरा जोना दूभर हो रहा है? मैं रोज़ भगवान् से तुम्हारे लिए प्रार्थना करती हूं।"

"क्या प्रार्थना करती हो?"

"कि तुम्हें सुबुद्धि दें।"

"और दुर्बुद्धि वाले मुझको तुम प्रेम नहीं कर सकतीं, यह भी न?"

"यह तुम्हें क्या हो गया है? मैं नहीं तो किसे प्रेम करती हूं?"

"शायद भगवान् को प्रेम करती हो। सुनो सुधा, अगर मुझमें विश्वास रखकर मुझे तुम तनिक भी प्रेम कर सको तो हो सकता है कि मैं एकदम गया-बीता प्राणी न भी निकलूं।"

लेकिन इस बातको सुधा जैसे समझ नहीं पाती थी। कहती, यही तो तुम्हारा रोग है। तुम मुझे भूल क्यों नहीं जाते हो? देखती हूं, मैं ही तुम्हारा सत्यानाश कर रही हूं। मैं सत्यानासिन यहांसे उठ जाऊं तो भला हो।

मैं समझाता। कहता कि सुधा, यह क्या कहती हो? तुम समझती क्यों नहीं हो? तुमको क्या नहीं मिला है? फिर तुम ऐसी क्यों होती हो?

बोली—जिसका पति निकम्मा हो उसको यहां क्या सुख हो सकता है, बताओ तो।

मैंने कहा कि तब तो दुःख मुझ निकम्मे आदमी का हक है। तुम दुःख क्यों उठाती हो?

सुधाने कहा कि तुम जानते हो कि तुम पढ़े लिखे और विद्वान् हो। लोग जाने क्या क्या आशा तुमसे रखते हैं। और तुमको बस प्रेम की बातें हैं। शर्म के मारे किसी को मुँह दिखाने लायक भी तो नहीं रह गयी हूँ।

मैंने कहा कि सुधा, बता सकती हो कि मैं किसके लिए निकम्मे के सिवा कुछ और बनूँ?

सुधा मेरी ओर देखती रह गयी। अनन्तर बोली, "फिर तुम ऐसी ही बात करने लगे? तुम क्यों नहीं जानते कि मुझपर क्या बीतती है।"

मैंने उस समय चाहा कि कहूँ कि तुम किसी भी और तरफ की बात न सोचो, सुधा। मैं तो हूँ और मेरा सब प्रेम तुम्हारा है। लेकिन मैं कुछ कह नहीं सका।

सुधा अन्त में मुँह फेरकर यह कहती हुई चली गयी कि मेरी जान चाहते हो तो कारोबार को कुछ देखो भालो।

लेकिन मेरे मन में कारोबार नहीं था। मेरे मन में सपने क्या झूठ होते हैं, और कारोबार सच? नहीं, ऐसा मैं अब भी नहीं मानता। अपने सपने को हम जिला सकें इससे अधिक हमारे लिए कोई काम महत्त्व का नहीं है। मैं अपने सपनों को कैसे गँवा देता? लेकिन सुधा नहीं, तो सपना क्या? केन्द्र हो नहीं, तो परिधि का विस्तार क्या? इससे जब मैं देखता कि सुधा मुझ से दूर होती जा रही है और उसकी ओर से अश्रद्धा ही मुझ तक पहुँचती है, तो मेरी सारी क्षमता और सब उत्साह अवसाद में मुरझाकर रह जाता है। अपने में मेरी निष्ठा न रह जाती। सोचता कि जाने दो कारबार को चूल्हे में। जब मैं स्वयं नहीं हो सकता हूँ तो कार-बार होकर क्या होगा?

मांने चेताया। मित्रने समझाया। लेकिन उसमें समझने की बात मेरे

लिए क्या थी ? आँखें तो मुझ में भी थीं। देखता था कि सब गड्ढे में जा रहा है लेकिन मुझ में तो गड्ढे से बचने या बचाने की इच्छा ही नहीं रह गयी थी। सब कहते थे कि तुम्हें यह हो क्या गया है ?

मैं उचटकर कहता कि मेरी समझ में नहीं आता कि मैं क्यों जी रहा हूँ ? मैं बड़ी आसानी से मर सकता हूँ। और आप लोग यही चाहते हो, तो यही हो जायगा। नहीं तो मुझे क्यों कुछ सुझाते हो। जगते को तो जगाया नहीं जा सकता।

आज उस अवस्था को मैं पूरी तरह याद नहीं कर सकता हूँ। निश्चेष्टता मुझे प्रिय हो चली थी। और जैसे जैसे निवृत्तिभाव बढ़ता था वैसे ही सुधा की आँखों में मैं दया-पात्र होता जाता था।

एक रोज की बात कि मैं सुनता हूँ कि अपनी उपासना की कोठरी में अकेली बैठकर, आंख मूँदे सुधा प्रार्थना कर रही है। कह रही है कि हे भगवन्, मेरे पति को सुबुद्धि दो। नहीं तो मुझे बल दो कि उनकी राहसे मैं हट जाऊँ ? मुझे लेकर वह तुमको भूल रहे हैं और कर्तव्य को भूल रहे हैं। उन्हें जगाओ, नहीं तो मुझे उठा लो।

(३)

नहीं, और मैं अब नहीं कहूंगा। है अब क्या कहने को ? मेरा मन जैसे जड़ हो गया। उसके बाद मुझ से सुधा की ओर आँख उठाकर देखा नहीं गया। मैंने सोच लिया कि अब वक्त आ गया है कि मैं किनारा ले जाऊं। ऐसे निष्फल तिरस्कृत जीवन से किसका क्या लाभ ? मैं भी उसे क्यों ढोऊं ?

लेकिन वह हो न पाया। एक एक कर पांच छः दिन और बीते दिवाला सिरपर आ टूटनेवाला हो गया। पल बिताना तपस्या थी। हर पल माथे पर टूटता पहाड़ दीखता। पूर्वजों की संचित इज्जत धूल में मिलने की घड़ी आ पहुँची। पर मैंने कहा कि हो; जो होना है हो। मुझे उसमें क्या करना है।

पर यदि मैंने कुछ नहीं किया तो सुधा ने ही कुछ किया। बहादुरी

उसे मैं नहीं कहूंगा। धर्म भी मैं नहीं कहूँगा। पर जो उससे बना, किया। वह गयी, और रेल के नीचे जाकर कट गयी।........

........कटने के बाद वह साँस लेने को भी बाकी न रही। टांगों पर से वह नहीं कटी थी। सिर ही कुचल गया था। और इस प्रकार अंगभंग हुआ था कि याद करते........

लेकिन छोड़ो उस बात को। कहानी थी सो हो गयी। तुम कहोगे कि क्या हुआ। मैं कहूंगा कि मेरी आंख खुल गयी।

तब से मैं मृत्यु का कृतज्ञ होना सीख गया। सुधा तो फिर मुझसे दूर हो ही नहीं सकी। वह सदा को मेरे साथ एक हो गयी। अब मैं अनुभव करता हूँ कि मृत्यु के द्वार में से ही सत्य को प्राप्त करना होगा। सुधा ने मुझे प्राप्ति की वह राह दिखायी।

: १६ :

उपलब्धि

श्री जिनराजदास की अवस्था लगभग पचपन वर्ष की हो आई, लड़का ओहदा पाकर उनसे निरपेक्ष हो गया और कन्या माता बनकर अपने घर की हो गई। तब उन्हें जैसे एकाएक ज्ञात हुआ कि जिन बिन्दुओं को दृष्टि में लक्षरूप रखकर जिन्दगी में वह अब तक बढ़ते चले आए हैं वे स्वयं भ्रम में थे और शून्य में खो गए हैं। छुटपन में विद्या में और परीक्षा में, उसके बाद क्रमशः स्त्री में, धन में, प्रतिष्ठा में और प्रभुता में उन्हें लगन होती चली गई थी। पर अब जैसे एकाएक यह सब सूना, सब व्यर्थ मालूम होने लगा है। उपार्जित ज्ञान अज्ञान लगता है! स्त्री बेड़ी, धन परिग्रह, प्रतिष्ठा माया और प्रभुत्व अहंकार जान पड़ता है। अब तक संसार घर लगता था, अब एकाएक वही परदेश सा दूर और पराया मालूम होता है। जैसे यहां के नाते-रिश्ते झूंठे हों और असल घर और कहीं हो।

जिन-जिन वस्तुओं को कभी बड़ी लगन से चाहा और बड़े प्रयत्न से प्राप्त किया था अब उन्हीं से उकताहट-सी होती है। लगता है कि ये ५०-५५ वर्ष जितने जीवन के उस अनन्त पारावार में विन्दु जितने भी तो नहीं हैं, जिसका किनारा मेरी मृत्यु से आरम्भ हो जाएगा। मृत्यु के उस पार क्या है, मालूम नहीं। पर केवल 'न'-कार वह अवश्य नहीं है। फिर जो भी वह है, अपरिमेय है, असीम है।

संक्षेप में जिनराजदास का मन विह्वल है। एक गहरी विरक्ति वह

बसती जा रही है। यहां के आरंभ-समारम्भ अब उनके मन को घेर नहीं पाते हैं। छूट-छूट कर यह मन यहां के घेरे से बाहर की ओर भागता है।

इसलिए उन्होंने अपनी उपाधि को लौटा दिया, वस्त्र सादा कर लिया, पलंग छोड़ सोने के लिए तख्त अपनाया और हर सप्ताह एक रोज मौन और अनशन से रहना शुरू किया। इस परिवर्तन के सम्बन्ध में उन्होंने किसी से सलाह नहीं ली। उनके परिचित जनों ने स्वभावतः माना कि यह भी एक बुद्धि-विलास है।

जिनराजदास के जीवन का आस-पास बड़ा प्रभाव था। वह सफल पुरुष थे। उनकी कर्मण्यता उदाहरणीय गिनी जाती थी। उनका निःशंक आत्म-विश्वास लोगों को आतंक में डाल देता था। निःसंदेह अदम्य उत्साह से भरे, लोगों को ठेलते और बिघ्न-बाधाओं को कुचलते हुए अपने संकल्प में स्थिर जिनराजदास अब तक सब कुछ पाते और बनाते चले आए हैं। राह में कहीं कच्चे नहीं पड़े। और जो चाहा उसे अप्राप्त नहीं छोड़ा।

पर सुई जैसा बारीक कांटा इस उम्र में उन्हें आ चुभा है। उस छिद्र की तनिक सी अभिसन्धि में से हवा तेजी से निकली जा रही है—बैलून अब नीचे आए बिना न रहेगा। अब वह निष्क्रिय, सशंक और सब के बीच होकर एकाकी पड़े जा रहे हैं। उन्हें नहीं आवश्यकता हुई थी किसी अपरतत्व की स्वीकृति की, यह दुनिया और उसमें सामने दीखने वाली सिद्धि उनके निकट सब कुछ रही थी। पर आज समस्त मन-प्राण की भूख के जोर से उनमें एक जिज्ञासा दहक उठी है, जो किसी भी तरह इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले पदार्थ-जगत् से शान्त नहीं हो पाती। उन्हें गम्भीर पीड़ा है। उसमें मानों लौट कर फिर वह शिशु से अबोध होते जा रहे हैं। मिट्टी के खिलौने के लिए जैसे बच्चा रत्नाभरणों को फेंक सकता है, वैसे ही मन की शान्ति (जो बहक नहीं तो बताइए क्या है ?) के लिए यह वृद्ध जिनराजदास अपनी सारी धन-दौलत फेंकने को तैयार दीख पड़ते हैं।

ऐसे लक्षण देखकर समझदार लोगों ने उनके बेटे श्रीवरदास को जतलाया कि परिवार का भविष्य उनके हाथ है। पिता तो अपना कर्तव्य कर चुके। अब पुत्र को सचेत रहना है। पर पुत्र पहले से सावधान थे और जायदाद उनके नाम हो चुकी थी।

यह बात यों हुई थी—

जिन राजदास ने पुत्र को बुलाकर एक रोज कहा—"श्रीवर, अब सब तुम सम्हालो, मुझे छुट्टी दो।"

श्रीवरदास—"पिता जी आपकी कृपा से मैं स्वयं समर्थ हूं। किसी परोपकार में अपनी सम्पत्ति लगाना चाहें तो मेरी ओर की चिन्ता को बाधा न बनने दें।"

जिनराजदास—"नहीं भाई, धन से उपकार होता है, यह मेरा विचार अब नहीं रहा।"

श्रीवर—"तो मेरे लिए यह सब क्यों छोड़ जाएंगे?"

जिनवर—"क्योंकि तुम्हारे निमित्त से सब जुड़ा था। वह तुम्हारा है। देना न देना भी तुम्हारे हाथ है।"

उसी समय पुत्र के पीठ पीछे श्रीवर की मां ने उनसे कहा—"यह क्या कर रहे हो? मैं बहू के दान पर रहूंगी? यह कोठी भी श्रीवर के नाम क्यों किए दे रहे हो? जानते नहीं, वह बहू के हाथ में है। तुम्हें हो क्या रहा है—मुझे भी अपने से पराया बना दे रहे हो न?"

जिनराजदास ने गंभीरता से कहा—"तुम क्या चाहती हो?"

पत्नी बोली—"मुझ से तो बहू की हुकूमत में नहीं रहा जाएगा।"

"चाहती क्या हो?"

"तुम्हारे पीछे परवश होकर रहूं, यही तुम चाहते हो तो वैसी कहो!"

"पर अभी तो मैं हूं।"

"हां, हो, पर देखती हूं कि तुम होकर भी नहीं हो—क्या जानती थी कि बुढ़ापे में यह दिन देखूँगी।"

"धन चाहती हो?"

"तुम अगर मेरे नहीं रहोगे तो धन बिना मेरे लिए कुछ और क्या रह जाएगा !"

सुनकर जिनराजदास कुछ देर चुप रहे, अनन्तर बोले—"देखो मुझे भूल न करना, मैं अब तक स्वार्थ के लिए रहा, तुम्हारे लिए नहीं रहा, तुम्हें जरूर अपने लिए मानता रहा। इस बारे में मुझे मुफ्त का पुण्य देने की बात कहीं मन में भी मत लाना, नहीं तो वही बोझ मुझे पाताल ले जाएगा। सुनो, अब उसी तरह के एक गहरे स्वार्थ की बात दिखाई दी है, जो अब तक नहीं दीखी थी। वह स्वार्थ इतना गहरा है कि उसके बारे में भूल हो सकती है। इसमें तुम को भी मैं अपने लिए नहीं मान सकता। शंका में न पड़ो। जाने का दिन आवेगा तब—लेकिन तब तक तो मैं हूं ही।"

पति की ऐसी बातें सुनकर पत्नी ने रही-सही आस छोड़ दी। तबसे वह मानने लगी कि श्रीवर के हाथ में ही रुपया-पैसा और मकान-जमीन का इन्तजाम आ जावे तो अच्छा है। इनका तो उतना भी भरोसा नहीं है।

इस भाँति पास और दूर जिनराजदास के लिए सहानुभूति की धारा सूखती जा रही थी। पहिले जिनराजदास को पूछने वाले सब थे। लेकिन यह जिनराजदास जो आप ही निरीह होते जा रहे हैं, नाहक जिन्होंने ने जाने क्या सरदर्द मोल ले लिया है। जिनराजदास के लिए औरों के मन में एक उदासीन करुणा के सिवाय और हो क्या सकता है ?

बात भी सच थी। पहले यह जानते थे कि सब कुछ जानते हैं। अनेक सार्वजनिक संस्थाओं के अध्यक्ष थे। भाषण करते तो अमित आत्म-विश्वास के साथ। वह एक ही साथ धर्म और व्यवहार के मर्मज्ञ माने जाते थे। उनके व्यवहार में एक शालीनता और निःशंकता थी, पर अब वह बात बीत गई। अब ज्ञान की जगह उसमें जिज्ञासा है। धर्म के पण्डित होने की बजाय अब वह मुमुक्षु हैं। उनकी प्रगल्भता मौन में शान्त हो गई है। सार्वजनिक सम्मान और प्रतिष्ठा में रस लेने की जगह

अब वह एकान्त में प्रायश्चित्त की प्रत्तारणा से प्रतिदिन अपना तिरस्कार करने में रस पाते हैं। पहले प्रार्थी, पुस्तकें, पंडित और पंच उन्हें घेरे रहते थे, अब चेष्टापूर्वक निर्जन-शून्य से घिरे रहते हैं। सार्वजनिकता में से उन्होंने अपने को खींच लिया है और जो लोग भूले-भटके पास आ भी जाते हैं, उनके आगे वह सहसा कातर हो आते हैं।

हम क्या कहें! कौन जाने यह अवस्था की क्षीणता ही हो। भावुकता का अतिरेक वार्धक्य का कारण हो। प्राण-शक्ति की कमी के कारण ही आत्म-विश्वास उनका जाता रहा हो, इसीलिए धार्मिकता यानी आत्म-दमन के लक्षण उनमें प्रकट हो चले हों। यह जो हो; पचपन वर्ष के लगभग आयु होने पर जिनराजदास में यह परिवर्तन आ चले—हम इतना ही जानते हैं।

(२)

साप्ताहिक अनशन और मौन से, तख्त पर सोने, मोटा खाने और मोटा पहनने से अन्दर की बेचैनी उनकी जा न सकी। बल्कि भीतर जो शंका जगी थी वह और भी गहरी पहुंच कर उसके अन्तरंग को कुरेदने लगी।

ऐसे कितना ही काल बीता। वर्ष से ऊपर हो गया। इस बीच जो भीतर स्थिर था, उखड़-पुखड़ कर नष्ट होने लगा।

अन्दर व्यथा कुछ इतनी गहरी होती गई कि पूर्वोपार्जित सब धारणाएं उसकी पीड़ा में आकार खोकर लुप्त हो चलीं। आग में जो पड़ता है, भस्म हो जाता है। कुछ उसी तरह की आग उनके भीतर लपटें देकर इस सारे काल दहकती रही। सोचा था, जगत् व्यापारों से अपने को शून्य करके शान्ति पावेंगे, पर वैसा कुछ न हुआ। चिनगारी ज्वाला बन दहकी। अब बीच में रुकना कहाँ था। पूरी तरह जल चुके बिना शान्ति न थी।

ऐसी अवस्था में एक दिन पत्नी को और लड़के-लड़की को बुला कर जिनवरदास ने कहा—"समय आ गया है। अब मैं जाऊंगा।"

तख्त पर चटाई डाले स्वस्थ और स्थिर अपने पिता को इस समय

वे तीनों नहीं समझ सके। तब भी इनकी बात को कान तक लेकर हठात् बोले—"कहाँ जाएँगे ?"

"कहाँ जाऊं, यह अच्छी तरह मालूम करके चलूं तो जाने का लाभ मुझे क्या होगा ! कहां नहीं, कहां से जाऊंगा, यही बतला सकता हूं और यही काफी है। यहां से जाऊंगा।"

उन तीनों ने उनका आशय समझा तो कहा—"जिस तीर्थ-स्थान में कहिए कुटिया बनवा दी जाए। सेवकों का प्रबन्ध हो जाएगा। आप धर्म-स्थान में रहिएगा।"

बोले—"नहीं, तुम नहीं समझे। इसमें तुम्हारा दोष नहीं है। कोठी और सेवक जो मेरे साथ बांधे रखना चाहते हो, इसमें भी तुम्हारी भावना का नहीं, संस्कार का दोष है। सुनो, कह नहीं सकता कहां वह बून्द मिलेगी जिससे प्यास बुझे। प्यास से मैं परेशान सा हूं। बहुत त्रास है। अब वह सहा नहीं जाता। उसी बून्द की खोज में निकल पड़ना है।"

बालक पिता को देखते रह गए। कम अधिक चालीस वर्ष जिसने साथ बिताए हैं वह पत्नी भी इन स्वामी को देखती रह गई। किसी तरह का कुछ भी नहीं समझ सकी।

सब बालकों ने कहा—"अब उम्र आई है कि हम कुछ समर्थ हुए हैं। अब तक आपको कष्ट ही दिया है। अब समय है कि आपकी सेवा से अपने को धन्य करें। वह अवसर न देकर हमें कृतघ्न बने रहने को क्या लाचार कर जाएगा ?"

"तुम ठीक कहते हो। लेकिन पिता का कोई पिता है, यह क्यों भूलते हो ! वह सब का पिता है। अब तक उसे भूले रहा, क्या यही पछतावा मेरे लिए काफी नहीं रहने दोगे ? न, इन बचे-खुचे दिनों को उनकी आंखों से बचाकर मैं उनके काम में नहीं ला सकूंगा। और अब उनके नाम से दूसरा मेरा काम क्या है।"

पुत्र ने कहा—"यह आप कैसी बातें कर रहे हैं पिता जी ?"

"तुम्हारी हैरानी ठीक है श्रीवर। तुमसे आज मैं बुद्धि की बात नहीं

कर सकता। मेरी बुद्धि खो गई। वह डूब गई। हाँ, मैंने ही तुम्हें अब तक विज्ञान सिखाया है। मैंने कहा है कि वैज्ञानिक बुद्धि रखो। अब भी कहता हूं। अपनी वल्दियत भगवान् को लिखाने चल पड़ा हूं, यह मत समझना। लेकिन दिन आएगा कि तुम भी समझोगे। तुम अपने को संसार को देना चाहोगे और पाओगे कि नहीं दे पाते हो। तब तुम अपने आपको लेकर बेचैन हो उठोगे कि कहाँ जाकर किस की गोद में उसे उड़ेलो। तब भगवान् की गोद ही तुम्हारे लिए रह जाएगी। पर ये दिन मेरे भगवान् से छीन कर तुम मुझ से ही छीन लोगे। ये तो मालिक के हैं। वह सब का मालिक है और उसे खोज निकालने के लिए सब हैं। नहीं समझे? जाने दो, छोड़ो।"

उस समय बात ऐसे बल पर आ गई थी कि शब्द बेकाम थे। वृद्ध के अन्दर की अमोघता शब्दों के पार होकर उन तीनों ने पहचानी। उसके आगे नत ही हुआ जा सकता है, और कुछ सम्भव ही नहीं है। तीनों सुनकर चुप हो रहे।

सहसा उस अवसन्नता को भंग करके पिता ने युवकों को कहा—"तुम जा सकते हो।"

उनके जाने पर तनिक ठहरकर पत्नी से कहा, "बताओ अब मुझे क्या करना है?"

"मुझे छोड़ जाओगे?"

"साथ कोई गया है?"

"तुम मुझे धन देना चाहते हो। मुझे नहीं चाहिए।"

"नहीं चाहिए तो अच्छा है। पर मैं जानता हूं कि चाहिए।"

"मेरा अपमान न करो।"

"धन होने पर किसी क्षण फेंका तो वह जा सकता है।"

"नहीं, मुझे क्षमा करो।"

"सुनो, उस रोज धन की आवश्यकता प्रकट करके यह न मानना कि तुमने भूल की। मन की बात के मुँह पर आने में भूल नहीं है। दुनिया

में इतना कहकर क्या सचमुच तुम यह सीखी हो कि धन व्यर्थ है ? नहीं ! तुम इतनी समर्थ हो कि भावावेग में नहीं बहोगी । श्रीवर अपनी फिक्र करेगा कि तुम्हारी ? अरे, तुम्हारा पति तुम्हारी फिक्र नहीं कर रहा है । सच, यहाँ कौन किसका है ! धन पास रहे तो काम तो आता है । चाभियां और कागज सम्हाल लेना । सब ठीक कर दिया है । कोठी यह तुम्हारी है ।"

पत्नी आँसू डालकर रोने लगी । "मुझे कुछ नहीं चाहिए । पर तुम कहां जा रहे हो ?"

"नहीं चाहिए सही । पर संसार चलाया तो उसका ऋण भी तो चुकाना है । सांसारिक कर्तव्य यहाँ अधूरा छोड़कर जाने से आगे भी मैं क्या पाऊँगा । उसकी पूर्ति तो मेरे हिस्से का काम है । मेरे कर्तव्य से तो मुझे तुम च्युत नहीं होने दोगी । उठो, वह मेरा दान नहीं, स्वयं मैं हूँ ।"

सारांश, होनहार रुका नहीं और जिनराजदास सब छोड़ परिभ्रमण को निकल पड़े ।

(३)

बन-बन घूमे । पर्वत छाने । गुफाओं में रहे । साधु संग किया । परिषह सही । तत्वज्ञों की शरण गही । सब झेला, पर प्यास बुझाना तो क्या, उल्टे बढ़ती गई ।

दूर से पहाड़ काली पांत से दीखते तो उत्साह होता कि वहीं पहुँचना होगा । गहन से गहन स्थान पर गये जहां प्रकृति का विभूत सौंदर्य अस्पृष्ट पड़ा था । चित्त को उससे आह्लाद हुआ । नदी-निर्झर, गिरि-गह्वर, लता-कुञ्ज, उजली धूप और खिलती सुषमा, गाते पक्षी और झूमते वृक्ष इन सबसे चित्त पुलकित हुआ । पर क्या प्यास बुझी ? क्षण-भर को वह भूल भले गई हो, बुझने के विरुद्ध तो वह तीव्र ही होती चली गई ।

केवल प्रकृति में समाधान न था । उसके आस्वाद में रस था, पर छल भी था ।

ऐसे वह चलते गए, चलते गए । भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, आधि-व्याधि आपदा-विपदा, जो मिले अपना प्रसाद मानकर भोगते गए और चलते गए ।

हिसाब तो बेबाक़ करना ही होगा। जाकर बही-खाता जो वहां दिखाना है। अतुल विलास का साधन जो उन्होंने अपने चारों ओर जुटाया था, उसका कम मूल्य तो नहीं था। वही अब पाई-पाई इस पर्यटन में चुका डालना होगा। मानो समय कम है और चुकाना बहुत है। कुछ इस भाव से जंगल से जंगल और पहाड़ से पहाड़ वह भटकने लगे।

आखिर काया क्षीण हो चली। चलने-फिरने का दम टूटने लगा। तट अब निकट आया। तट के पार चलने को यान मृत्यु ही है। मृत्यु में ही मनुष्य का अहंकार निःशेष होता है। इसी से मनुष्य का कोई अनुमान, कोई कल्पना उस तट के पार टोह लेने जाकर बाकी नहीं बच सकी। नोन की पुड़िया समुद्र में क्या खो न जायगी।

अन्त में पहाड़ से उतर कर वह मैदान में आए और नदी-तीर के पास वृक्षों के झुरमुट में एक परित्यक्त स्थान पर उन्होंने विश्राम कर लिया।

(४)

राह में एक कुत्ता उनके साथ हो लिया था। उसे घायल पड़ा हुआ देख इन्होंने कुछ उपचार किया और स्वस्थ होकर वह इन्हें न छोड़ सका। इन्होंने भी उस बारे में विशेष ध्यान नहीं दिया। खाने को जो पाते उसमें कुत्ते का साझा भी मानते और उससे अकेले में बातचीत भी किया करते। कुत्ते के लक्ष्य से उन्होंने आविष्कार किया था कि गम्भीर आदान-प्रदान में भाषा बाधा है। मानवों में ऐक्य की कठिनाई बोलने के कारण है। तभी भाषा का माध्यम बीच में न होने के कारण अपने से ऊपर जाति के मानव का प्रेम चिरस्थायी रहता है।

इधर देहिक असमर्थता से अधिक मानसिक तन्मयता के कारण कोई दो रोज से वह खाने के प्रबन्ध से उदासीन हो गए हैं। उनका मन, प्राण भीतर की प्यास से बहुत कण्टकित हो उठा है। अपनी सुध उन्हें बिसर गई है, उठने-बैठने, सोने-जागने, खाने-पीने का भी ध्यान उन्हें नहीं रह गया है। देर-देर तक शून्य में टकटकी बाँधकर देखते रह जाते हैं। वहाँ से

निगाह हटती है तो उन्हें यह पाकर हैरानी होती है कि उनकी आँखों से आँसू गिर रहे थे।

एक बार इस तरह एकटक निहारते-निहारते उनके मुँह से निकला—"अरे, कितना भरमायगा! अब कहीं न जाऊँगा। मौत जिसे कहते हैं, जान गया हूं, वह तेरा ही हाथ है। ओ छलिया, तू अँधेरा बनकर इसीसे न आता है कि आँखें तुझे न पहिचानें। पर ले मैं पा गया। पर कहाँ?.... तू कहाँ है?"

रह रह कर वह इसी तरह पूंछ उठते, तू क्या है? कहाँ है?" "अरे, बोल तो सही कि तू है।" बीच में कभी हंस रहते। कभी रो पड़ते। इसके बाद यह भी अवस्था उनकी न रही कि कुछ प्रश्न बनकर मुँह से उनसे अलग हो सके। मानों अपनी समग्रता में वह स्वयं ही प्रश्न बन गए। तब स्तब्ध, मूक, ऊपर आसमान में टकटकी बांधे, खुले मुँह, वह पाषाण की तरह स्थिर हो गए। मानों आँखें जिस बिन्दु की ओर हैं, शरीर का रोम-रोम उसी ओर लौ लगाए अवसन्न और प्रतीक्ष्यमान है।

कुत्ता कुछ रोज से अपने साथी की हालत पहिचानकर बेचैन रहने लगा था। आज जब देखा कि उसका साथी न हिलता है न डुलता है, न उसे खाने की सुध है न खिलाने की, एकटक जाने वह क्या देख रहा है! तो पहिले तो उसका ध्यान बटाने की कोशिश में वह इधर-उधर झाड़ी के आस-पास जाकर रह-रहकर यों ही भोंकने लगा। इसमें असफल होकर वह उनके पास से और पास आता चला गया। किसी भी तरह जब उनमें चैन न पड़ता दीखा तो कान के पास आकर भोंकने लगा।

इस पर जिनवरदास का ध्यान भंग हुआ। उन्होंने झिड़क कर कुत्ते को कहा, "हट, दूर हो।"

कुत्ता दूर हो गया। पर फिर साथी की पहले सी हालत देखकर वह चिन्ता में घुलने लगा। उसने एक शरारत की थी। कई दिनों का भूखा होने से कहीं पड़े एक मांस के टुकड़े को वह चाटने लगा। सहसा उसे विचार हुआ कि मेरा साथी आदमी भी तो भूखा है। इस पर आहिस्ता

से मुँह से उठाकर वह टुकड़ा उसने पास एक झाड़ी में छिपाकर रख दिया था। सोचता था कि उन्हें चेत होगा तो सामने रख दूँगा। मेरा कुछ नहीं, पर वह भूखे हैं। किन्तु जिसकी खातिर वह ऐसा सोच रहा था उसी से सहसा झिड़की खाकर वह निरुत्साहित हो गया।

बैठे-बैठे उसने विचारा कि यह बिचारे भूख की वजह से ही मुझपर नाराज़ हुए होंगे। चलूँ, उस टुकड़े को उनके पास ही ले चलूँ। यह सोचकर मांस का टुकड़ा चुप के से उनकी पीठ की तरफ डालकर वह जिन राजदास के सामने पूंछ हिलाता हुआ खड़ा हो गया। जिनराजदासने उधर ध्यान न दिया। इसपर अगले दोनों पैर जिनराजदास के कंधे पर रख कर उनके मुंह के पास मुंह ले जाकर मानों उन्हें चाटना चाहने लगा।

जिनराजदास ने इस चेष्टा पर कुत्ते को जोर से धक्का देकर दूर फेंक दिया।

कुत्ता कुछ देर तो वहीं पड़ा रहा और जाने क्या सोचता रहा। फिर उठकर वह उनके पैरों के पास आकर चुपचुपाता बैठ गया। बैठा बैठा फिर अपनी जीभ से उनके तलुवे चाटने लगा।

बारबार इस तरह अपना ध्यान भंग होना जिनराजदास को अच्छा नहीं लग रहा था। वह मानते थे कि इसी समय को मैं अपना अन्त-समय बना लूँगा और समाधि मरण प्राप्त करूंगा। पर यह अभागा कुत्ता आत्म-ध्यान से उन्हें बार-बार च्युत कर देता था। इस बार किंचित् रोष में उन्होंने जोर से पैर की लात मार कर कुत्ते को अपने से परे कर दिया।

कुत्ता सहसा चीखा, लेकिन शायद वह अपने साथी को बहुत प्यार करने लगा था। इससे कुछ देर आसपास डोलकर वह वहीं पैरों के पास क्षमा प्रार्थी बना हुआ आ लेटा। कुछ देर तो दोनों पैरों में मुंह देकर आंख भींचे उन्हीं की तरह ध्यानस्थ पड़ा रहा। अनन्तर पीछे से मांस का टुकड़ा खींचकर स्वयं ही उसे चबाने लगा।

कुत्ते के मुंह की चपचप से जिनराजदास की तल्लीनता इस बार टूटी तो उनको बहुत ही बुरा मालूम हुआ। तिसपर देखते क्या हैं कि कुत्ता

मांस का टुकड़ा चबा रहा है जिसके उच्छिष्ट कण दो-एक उनके बदन पर भी पड़े हैं।

इसपर सहसा क्रोध में आकर उन्होंने कुत्ते को लात से बेहद मारा और मारते-मारते अपने पास से दूर खदेड़ दिया।

कुत्ता चला गया और जिनराजदास उसी तरह अपनी जगह आ बैठे। उन्होंने सोचा कि अब ध्यान में कोई बाधा न होगी।

पर कुछ देर में आंख खोलकर उन्होंने इधर-उधर देखा कि कुत्ता आ तो गया है न, चला नहीं गया। पर वह नहीं आया था। यह उनको अच्छा नहीं लगा। लेकिन इस बात को मन से हटाकर वह अपने ध्यान में लीन हो गए। पर देखते क्या हैं कि आकाशस्थ जिस बिन्दु पर वह ध्यान जमाते हैं, वहाँ रह रह कर कुत्ते का चित्र प्रकट होने लगा है। तब आँख बंदकर अपने भीतर उन्होंने ध्यान जमाना चाहा। पर वहां भी बीच-बीच में कुत्ता प्रकट होने लगा। इसपर उन्हें बहुत बुरा मालूम हुआ और कुत्ते को कोसने को जी चाहा। पर जितना रोष बढ़ता, कुत्ता उनके भीतर-बाहर उतनी ही प्रबलता से उनके समक्ष और प्रत्यक्ष ही रहता। यहाँ तक कि कुछ पल भी टिककर आत्मध्यान में रहना उनके लिए कठिन हो गया। अन्तः में निराश होकर उन्होंने तय किया कि उस कुत्ते को फिर से पाना होगा।

कुत्ता ज्यादा दूर नहीं गया था। वह एक हड्डी से चिपटा हुआ था। जिनराजदास को पास आते देख उसने गुर्राना शुरू किया।

जिनराजदास ने कहा, "चलो भाई, गलती हुई। मेरे साथ चलो।"

इसपर कुत्ते ने दाँत दिखाए। मानों कहा, "और आगे न आना, नहीं तो मैं नहीं जानता। यह हड्डी मेरी है।"

जिनराजदास बढ़े ही चले गए। उनके मन में स्नेह था और पछतावा था।

कुत्ते ने देखा कि इस आदमी के चेहरे पर गुस्सा नहीं है, वहाँ प्यार है और दया है। जैसे यह उसका अपमान हो। झुंझला कर कुत्ते ने फिर

चेतावनी दी, "मेरे दांत पैने हैं, खबरदार आगे न बढ़ना, अब हम दोस्त नहीं हैं।"

जिनराजदास ने कहा, "मुझे माफ़ करो, भाई ! मैंने तुम्हारा तिरस्कार किया, अब ऐसा नहीं करूँगा।"

किन्तु तब तक कुत्ते ने अपने दांत उनकी टांगों में गाड़ दिये थे। और इतने से संतुष्ट न रहकर वह उन टांगों को पूरी तरह झिंझोड़ देना चाहता था।

पैर में उनके लिपटते ही जिन राजदास वहीं बैठ गए और टाँगों की तरफ देखकर कहा, "यह तो तुमने ठीक ही सजादी। लेकिन भाई" कहने के साथ उसके गले में अपनी बांह डाल देनी चाही।

कुत्ते को तब कुछ सूझ न रहा था। अपने गले की ओर बढ़ती हुई जिनराजदास की वही बांह उसने मुंह में धरली और दाँतों को गहरा गाड़ दिया।

जिनराजदास ने कहा, "चलो यह भी ठीक है। पर अब आओ, मेरी गोद में तो आओ।" यह कहते हुए उन्होंने अपनी दूसरी बांह को पीछे से डालकर कुत्ते को गोद में ले लेना चाहा।

कुत्ते ने उलटकर उसी तरह दूसरी बाँह को भी लहू-लुहान कर दिया।

जिनराजदास ने इस पर हंसकर प्यार से अपनी ठोड़ी पीठ पर डाल कर कुत्ते को किंचित् अपनी तरफ लिया। पर कुत्ते ने छूटते ही उनके मुंह को नोच लिया। इस भांति कुत्ता उनके प्रेम से अपने को स्वतन्त्र कर वहां से भाग गया।

उस समय जिनराजदास हाथ पैर छोड़कर वहीं घास पर लेट रहे। शरीर से जगह-जगह से लहू बह रहा था, पर चित्तमें अब भी कुत्ते के लिए प्यार भरा था। अपने क्षत-विक्षत देह की उन्हें कुछ संज्ञा न थी। उन्हें इस समय अपनी मृत्यु में परम तृप्ति मालूम होती थी। अपने से दूर किसी वस्तु के पाने की आवश्यकता इस समय उनमें शेष नहीं रही थी। मानों जो है, वह उनके भीतर भी भरपूर है।

ऐसी अवस्था में जब कोई प्रश्न उनके अन्तर को नहीं मथ रहा था, एक प्रकार की कृत कामना उनके समस्त अन्तरंग में परिव्याप्त थी और शरीर से लहू के मिस मानों उनके चित्त से स्नेह ही उमग-उमग कर बह रहा था। जिनराजदास ने मृत्यु को अपना आलिङ्गन दिया।

ठीक, मृत्यु के साथ अपनी भेंट के समय, उस दिव्य अंतमुर्हूर्त में उन्होंने पा लिया कि वह साध्य क्या है जिसे पाना है और वह साधना क्या है कि जिस द्वारा पाना है। वे दो नहीं हैं, एक हैं। इस प्रकार परमानंद के क्षण में वह मां की उस गोद में जा मिले जो अनन्त प्रतीक्षा में आतुर भाव से सबके लिए फैली है।

: १७ :

प्रियव्रत

जी, कवि प्रियव्रत की ही बात कहता हूं। वही जो जवानी में बिचारा मर गया। अंत की ओर की बात है। हम सहपाठी थे और प्रियव्रत मुद्दत बाद मुझे मिला था। इतनी मुद्दत कि अकस्मात् उसे सामने देख कर मैं कह बैठा, 'अरे, प्रियव्रत ! तुम, तो अभी बाक़ी हो दुनिया में ?'

प्रियव्रत ने मंद भाव से कहा, 'हां, अभी तो हूं।'

वह दुबला दीखता था। चेहरा कुछ पीला था, लेकिन आँखें चमकदार और बड़ी। उसे पाकर मैंने एकदम बहुत कुछ पूछा। कहां रहे ? क्या करते रहे ? कोई नई पुस्तक ? कहीं नाम-धाम भी सुनने में नहीं आया। कुछ लिखा पढ़ा ? नहीं ? तो क्या भाड़ झोंका ? ब्याह हुआ ? बच्चे हैं ? इत्यादि।

उसने संक्षेप में जवाब दिए : मानों ऐसी बातें सब निस्सार हों। पता मिला कि विवाह को कई बरस हो गए। पत्नी मैके हैं। बच्चे दो हुए। अब कोई नहीं है। और शेष चैन है।

'कुछ लिखा नहीं ?'

उसने कहा कि लिखने से निवृत्ति पा ली है। अब छुट्टी है।

मैंने कहा कि लिखना तुम नहीं छोड़ सकते। सुनते हो ?

उसने कहा कि क्या सुनूँ ? लिखने की बात न करो। कुछ और बात करो। वह बचपन था।

लेकिन मैं यह कैसे सहता ? प्रियव्रत की साहित्यिक प्रतिभा से मैं

परिचित था। लिखने से उसका विमुख होना दुर्घटना ही थी। यही बात मैंने कही। कहा कि अभिव्यक्ति आवश्यक है, और नहीं तो उससे चित्त ठीक रहता है। मन का रुकना ताल है। लिखने से प्रवाह प्रवाहित रहता है।

पर इस पर तो प्रियव्रत बहस पर उतारू हो आया। आँखों में चमक आ गई और चेहरे पर की मंदता एक दम जाती रही। कहने लगा कि सुना था कि तुम दार्शनिक हो गए हो। यही तुम्हारा दर्शन है? अभिव्यक्ति की ज़रूरत हो क्यों? उस ज़रूरत का मतलब है कि आदमी आत्मतुष्ट नहीं है। असल में स्वतः में मग्न रहना चाहिए। मग्नता में फिर क्या अभिव्यक्ति, और किसके प्रति?

मुझे मग्नता और अभिव्यक्ति के रिश्ते से कुछ लेना नहीं था। पर प्रियव्रत को मैं छोड़ नहीं सकता था। मैंने कहा कि अपने में तो पूरा कोई नहीं है। बस यह भूल रहने से तो कोई अधूरा होने से नहीं बच सकता। अधूरा है इसीसे अभिव्यक्ति है। वही फिर व्यक्ति की निमग्नता की क्षमता बढ़ा देगी।

प्रियव्रत ने ज़ोर से कहा कि नहीं, नहीं, नहीं। ज़रूरत ही क्या कि मैं अपने भीतर को बाहर करूँ? भीतर को भीतर मैं क्यों नहीं रख सकता? व्यक्त करता हूं तो मतलब है मुझसे सहा नहीं जाता। लेकिन मैं दुखी हूं तो, सुखी हूं तो, किसी को क्या पड़ी है कि मैं अपना सुख-दुख दूसरे को पता लगने दूं? असंयम और किसका नाम है?

मुझे उसके शब्दों की ध्वनि पर निश्चिन्तता नहीं प्राप्त हुई। मैंने कहा कि मन का सुख-दुख और नहीं तो शरीर के स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य के रूप में प्रकट होगा। भीतर और बाहर दो तो एकदम नहीं हो सकते न?

मैंने देखा कि प्रियव्रत कुछ तेज़ हो आया। उसने कहा कि जो हो, अभिव्यक्ति तुम कहते हो होगा ही, तो वह होकर रहेगी। मुझे उसके बारे में क्या सोचना-विचारना है? मैं तङ्ग होना नहीं चाहता।

स्पष्ट था कि इस चर्चा में उसे रस था। कुछ और बात उसे नहीं

सुहाई। आस-पास से उसे नाता नहीं मालूम होता था और सूक्ष्म में उस का मन था।

मैंने कहा कि अगर हमारी भावना व्यक्त होगी, तो हमारे बावजूद उसका व्यक्त हो जाना इष्ट नहीं है। इसलिए कहना होगा कि अभिव्यक्ति होती ही नहीं है, उसे हम करते भी हैं। उसमें हमारा असहयोग नहीं हो सकता, बल्कि कर्तृत्व होना चाहिए।

उसने कहा कि क्या मतलब? मैं उषा का चित्रपट आकाश पर देख कर प्रसन्न हो जाता हूं तो मैं कहता हूं कि उस प्रसन्नता में ही मुझे सब कुछ प्राप्त है। यह क्यों आवश्यक है कि मैं उस सौन्दर्य पर कविता रचूं? नहीं, मेरे स्वयं प्रसन्न होने के आगे और सब अनावश्यक है। जो अभिव्यक्ति सामाजिक होने की ओर चलती है, मैं उसमें विश्वास नहीं करता। वह चीज़ मुझे ग़लत मालूम होती है।

मैं कुछ समझ नहीं सका कि इन तात्विक बातों में प्रियव्रत का आग्रह क्यों है। तत्व को तो जैसे रक्खो, वैसे रख जाता है। लेकिन मालूम होता था कि प्रियव्रत नहीं चाहता कि मैं चर्चा रोकूं। मैंने कहा कि 'सोशल' शब्द का मान बँधा नहीं है। मैं अकेला नहीं हूं। कोई अकेला नहीं है। हरएक अनेकों के बीच और साथ है। वह है तो समाज का होकर है। मनुष्य लाज़मी तौर पर सामाजिक है। समाज से कट कर मैं नहीं हो सकता। उससे अछूता मैं हूं कहां? और अगर समाज से अभिन्न हूं तो कोई मेरी अभिव्यक्ति हो नहीं सकती जो समाज को न छूए, निरा अपना अलगाव रक्खे। उषा-दर्शन के समय मैं अकेला हूं, दूसरा कोई पास नहीं है, तो क्या इतने पर मैं कह दूं कि उस समय की मेरी प्रसन्नता समाज से कोई सम्बन्ध नहीं रखती? वह कहना ठीक नहीं होगा। मेरा स्वास्थ्य समाज को चाहिए। इससे मेरी प्रसन्नता में समाज का हित है। अतः यदि मैं सामाजिक हूं तो मेरी अभिव्यक्ति निरी वैयक्तिक हो नहीं सकती। इसलिए 'सोशल' शब्द को अप्रयुक्त रखकर भी हम उसे सदा साथ समझ सकते हैं। सवाल यह है कि अभिव्यक्ति चाहिए

या नहीं ? मैं समझता हूं कि अन्तर्भावनाओं को अभिव्यक्ति नहीं मिलेगी, यानी हम उन्हें अभिव्यक्ति नहीं देंगे, तो वे भावनाएं हमारा बल नहीं बढ़ावेंगी, उल्टे हमें ही खाने लग जायंगी। या तो जियो, नहीं तो मरो। आदमी थिर होकर नहीं रह सकता। गति शर्त है। चढ़ता नहीं, तो उसे गिरना होगा। जगत् गतिशील है। चैतन्य प्रवाहमान है। हमारी अंतरानुभूति या तो हमारे मूल व्यक्तित्व में अंगीकृत होकर आत्मगत होगी और हमारे परिवर्द्धन में सहायक होगी, नहीं तो भीतर वह एक शव की भांति बैठ जायगी और प्रवाह में बाधा होगी। वह तब हमें भीतर से कुतरती रहेगी। अभिव्यक्ति का यही मतलब है। हम ऐसे अपनी ही अनुभूति को आत्मसात् करते हैं। उसे कल्पना में लाते हैं, विवेकमय बनाते हैं, व्यवहार में लाते हैं। ऐसा नहीं करते तो आज मन में उठा हुआ एक भाव हमारे भीतर ही व्यर्थ रूप से चक्कर लगाता और टकराता है। वह फिर हमारी राह में अवरोध बनता है। वाणी या कृत्य में वह भाव अभिव्यक्ति पाकर मानों मुक्ति भी पा लेता है।

प्रियव्रत ध्यान से सब सुनता रहा। मुझे उसका वह तल्लीन चेहरा देखकर कभी-कभी मालूम होता था कि पुरुष-सौंदर्य का क्या अर्थ होता होगा। मेरे चुप होने पर उसने कहा, 'मैंने कविता लिखना बन्द करदी है, तो क्या तुम यह कहना चाहते हो कि मेरी कविता बाहर न आने के कारण मुझे भीतर से खा रही होगी ? लेकिन मैं जानता हूं कि मैं अपने से इस बात पर बिल्कुल नाराज़ नहीं हूं। कविता बचपन है। उसमें सार नहीं मालूम होता।'

'लेकिन जिसमें सार मालूम होता है, ऐसा क्या है जो तुमने इस बीच किया है, वह तो मालूम हो ? कौन कहता है कि कविता ही अभिव्यक्ति है। बल्कि वह पूरी और सच्ची अभिव्यक्ति है भी नहीं। क्योंकि कविता अकर्मक होती है। कार्मिक अभिव्यक्ति भी साथ हो, तब चक्कर पूरा होता है। तो क्या इस बीच कर्म द्वारा अपनी आकांक्षाओं को तुमने मूर्त रूप दिया है ? वाणी से स्थूल कर्म है। और जो कर्म में स्वप्न को

उतारता है, वह कवि से बड़ा कवि है। मैं सुनना चाहता हूं कि यह तुमने किया है।'

प्रियव्रत कुछ देर मानों सोचता रह गया। फिर बोला कि नहीं मैं तुम्हारी नहीं सुनना चाहता। अभिव्यक्ति जो व्यक्ति को समाज से जोड़ती है, व्यक्ति के लिए बंधन भी है। समाज से अपने को अटका कर व्यक्ति पूर्ण नहीं हो सकता। वह पूर्ण है तो अपने ही में है, और जो पूर्ण है वह कृतकाम है। उसे कुछ व्यक्त करना नहीं है; क्योंकि कुछ पाना नहीं है। अभिव्यक्ति के भीतर है चाह। चाह यानी ग़रज़। वह है बंधन। बंधनहीन अभिव्यक्तिहीन होगा। न मैं कुछ कहना चाहता हूं, न कुछ करना चाहता हूं।

मैंने कहना चाहा कि 'प्रियव्रत !' लेकिन आगे मैं कुछ न कह सका। उसे देखता भर रह गया। युवाकाल के प्रारंभ में प्रियव्रत की प्रतिभा से साहित्यजगत् चमत्कृत हो पड़ा था। अभी तो उस यौवन का मध्याह्न भी नहीं आया है, फिर अभी से प्रियव्रत का यह क्या हाल है !

उसने कहा, 'नहीं, विद्याधर, मेरा जी किसी काम को नहीं करता। जग से विरक्ति मालूम होती है।'

मैंने कहा, 'प्रियव्रत, तुम उस कम्पनी में थे न ? क्या उससे अब सम्बन्ध नहीं है ?'

प्रियव्रत ने पूछा कि कंपनी क्या ?

मैंने सुझाया कि उस फिल्म कम्पनी में थे न !

प्रियव्रत की भौंह सिकुड़ आई। उसने कहा कि हां.......था, पर वह बात पहले जनम की है और अब दो वर्ष से वह ख़ाली है। ऐसा ख़ाली कि........। और पिछले चार महीनों से उसकी पत्नी अपने पिता के घर है जहां कि उसकी विमाता नहीं चाहती कि वह रहे।

मैंने कहा कि प्रियव्रत, ऐसी हालत में तो तुम्हें और मनोयोग से लिखना शुरू कर देना चाहिए।

प्रियव्रत ने माथे में बल लाकर कहा कि ऐसी हालत में ? क्या तुम्हारा

मतलब है कि पैसे के लिए मुझे लिखना चाहिए ? पैसे के लिए मैं जूता तक साफ़ नहीं कर सकता। लिख तो सकता ही कैसे हूं। नीच से नीच काम पैसे के लिए मुझसे न होगा। उस पैसे के निमित्त लिखने जैसा काम करने को मुझसे कहते हो ? सुन कर मेरा जी जल उठता है।

मैंने पूछा कि फिर क्या करोगे ?

प्रियव्रत की आंखों में कुछ निश्चित नहीं मालूम होता था। लेकिन वाणी पर्याप्त से अधिक कटिबद्ध प्रतीत हुई। उसने कहा कि करना मुझे क्या है। जो करते हैं वे ख़ाक करते हैं। मैं अपने में मग्न रहने के लिए हूं। अपने से बाहर का मुझे कुछ नहीं चाहिए। भीतर क्या नहीं है ? बाहर की बड़ी से बड़ी चीज़ के पास ताक़त नहीं है कि मेरा छोटे से छोटा दुख अपने पास रोक सके। दुख है तो मुझमें है। सुख है तो मुझमें है। मैं नहीं परवा करता दुनिया की। तुम जानते हो ?—तुम नहीं जानते। दो बरस मैं वह तुम्हारी कविता लिए-लिए घूमता रहा। किससे नहीं मिला ? लेकिन कोई प्रकाशक उन्हें नहीं छाप सका। मैंने तब सोचा कि प्रकाशक को तकलीफ़ मैं क्यों देता हूं। चलो, प्रकाशकों को सदा के लिए छुट्टी दे दूं। सोचकर कविता के पुलिंदे को मैंने जला दिया। यहां उसने एक सांस छोड़ी और विलक्षण भाव से मुस्कराया। फिर कहा—'कविता नहीं है तो मैं भी मुक्त हूं। और अब मुझे किसी प्रकाशक के पास जाने की ग़रज़ नहीं रह गई है।'

सुनकर मैं स्तब्ध रह गया। शायद मैंने प्रतिवाद में कुछ कहा।

प्रियव्रत ने कहा कि उनका जलाना ग़लती तो तब हो जब मैं आगे भी कुछ लिखूं। लेकिन उसके बाद एक अक्षर भी मैंने नहीं लिखा, न लिखूंगा। फिर तुम इसको ग़लती कैसे कह सकते हो ? और तुम कहते हो अभिव्यक्ति ! मैंने इतने दिनों से जो कुछ भी नहीं लिखा है, इससे बताओ मेरा क्या कम हो गया है ? तब ज़िंदा था, सो अब भी ज़िंदा हूं। बिना लिखे मरने की कोई ज़रूरत मुझे नहीं मालूम हुई।

प्रियव्रत की स्थिति पर मेरे मन को पीड़ा हुई। मैंने कहा कि प्रियव्रत

शायद मिश्रजी को तुम जानते होगे। हां, जो आलोचना आदि लिखते हैं। वह अब विश्राम चाहते हैं। उनके सहायक उनकी जगह हो जायँगे और सहायक की जगह उस पत्रिका में ख़ाली होगी। उस पर जा सकोगे?

'सहायक संपादक की!'

इतना कह कर प्रियव्रत ने आगे कुछ नहीं कहा और कठिन व्यंग से थोड़ा हँस दिया। कुछ देर बाद बोला, 'वेतन होगा वही साठ—सत्तर?'

मैंने कहा, 'सहायक शुरू में पचास पाते थे। लेकिन वेतन—'

प्रियव्रत कह उठा, 'पचास!'

मैंने कहा, 'दिन एक से नहीं रहते, प्रियव्रत। पचास का मुँह मत देखो। तुम्हारी योग्यता छिप नहीं सकती। बस एक बेर चित्त थिर कर लो। बाकी भाग्य देख लेगा।'

प्रियव्रत ने व्यंग से कहा, 'मैं तुम्हें धन्यवाद देता हूं, विद्याधर।'

मुझे सुन कर पीड़ा हुई। फिर भी मैंने अनुरोधपूर्वक कहा कि भविष्य को कोई नहीं जानता। इससे वर्तमान की मर्यादा पर लज्जित होने की कोई बात नहीं है, प्रियव्रत।

लेकिन प्रियव्रत ने कहा, 'मैं पचास की नौकरी नहीं कर सकता। और न किसी का सहायक हो सकता हूं। भूखों मरना पड़े तो इतिहास लिखेगा तो कि प्रियव्रत जैसे कवि को दुनिया ने भूखा रक्खा और उसी में जान ले ली! ग़रीबी इस तरह मुझे अभाग्य नहीं मालूम होती। लेकिन पचास में सहायक संपादकी मुझसे न होगी।'

मैंने कहा कि पचास रुपए थोड़े हैं, यही बात है न? लेकिन न कुछ से तो कुछ भला है। इसे स्वीकार कर लो, प्रियव्रत! आगे, विश्वास मानो, सब ठीक हो जायगा।

लेकिन प्रियव्रत को वह बात नहीं भाई। उसे वह अपमानजनक मालूम हुआ। थोड़ी देर बाद किंचित् रुष्टभाव से प्रियव्रत मुझसे विदा ले चला गया।

२

मुझे नहीं मालूम था कि इस दिल्ली शहर में वह कहाँ टिका है। मैंने उसका स्थान पूछा था उसने कहा था कि अभी स्थान और स्थिति जैसी कोई चीज़ उसके पास नहीं है। जहां तहां ठहर गया है और जैसे तैसे रह लेता है। मिलता तो रहेगा। इसलिए जो होगा, मुझे पता लग जायगा।

लेकिन मुझे कुछ पता नहीं लगा। दस दिन, पंद्रह दिन हो गए। प्रियव्रत गया तो फिर ख़बर तक नहीं लौटी। उसके लिए मेरे मन में चिंता थी। कालिज में हम दोनों दो वर्ष साथ रहे थे। मैं वहां उसकी प्रतिभा पर मुग्ध था और उसका अनुगत था। कालिज के सभी लड़कों में उसकी धाक थी। भविष्य उसका उज्वल समझा जाता था। लेकिन उस भविष्य में यह काला दुर्भाग्य कहां से निकल आया? आज की उसकी हालत पर मन किसी तरह गर्व नहीं मानता। अपनी और उसकी तब की और अब की तुलना पर मुझे जगत् बेतुक मालूम होता था। जिसमें कोई विलक्षणता न थी, कोई योग्यता न थी, ऐसा मैं तो खुशहाल था। और प्रियव्रत का हाल बेहाल था। मेरा मन प्रियव्रत के सोच से छूट नहीं पाता था। मैं सोचता था कि प्रियव्रत क्यों नहीं आया? वह कहां है? कैसे है?

शायद महीने से कुछ ऊपर हो गया होगा कि एक दिन प्रियव्रत की पत्नी मेरे घर आई। उन्होंने आकर स्वयं अपना परिचय दिया, और कहा कि वह अब उस पत्रिका में जाने को तय्यार हैं। मैं प्रबंध कर दूं।

मैंने कहा कि प्रियव्रत यहीं हैं? कुशल से तो हैं न?

उन्होंने कहा कि हां, कुशल ही कहिए। आप उनके लिए उस जगह का बन्दोबस्त कर दें।

मैंने कहा कि अब तो शायद है कि किसी को उस जगह रख लिया गया हो। फिर भी मैं देखूँगा। कल मालूम करके निश्चित बता सकूँगा।

वह चली गईं, और उनके चले जाने पर मैं सोचने लगा कि वह मेरी परिचित नहीं थीं तो क्या हुआ, मैंने उसके साथ जाकर प्रियव्रत को

देख ही क्यों न लिया ? मेरे मन में प्रियव्रत के बारे में शंका थी। अगले दिन वह फिर आईं। मुझे तब उनसे कहना हुआ कि वह जगह तो अब ख़ाली नहीं रह गई है।

महिला ने कहा, 'तो ?'

इस संक्षिप्त 'तो ?' को सुन कर और उनकी निगाह को देख कर मैं अपने को अपराधी सा लगने लगा। मैंने कहा, 'जो कहिए करूं।'

महिला ने कहा, 'तो आप कुछ नहीं कर सकते ?'

मैंने कहा, 'बताइए क्या कर सकता हूँ ?'

बोलीं, 'कुछ ज़रूर कीजिए। उनकी हालत अच्छी नहीं है।'

मैं आग्रहपूर्वक उनके साथ प्रियव्रत को देखने गया। उसको खाँसी थी और हर रोज टैंपरेचर भी हो आता था। वह पीला था और दृष्टि उसकी भटकती मालूम होती थी। इलाज की कुछ ठीक व्यवस्था नहीं थी। परिस्थिति में चारों ओर अभाव ही अभाव दीखता था। पत्नी अपना सब कुछ गँवा चुकी थीं और उन्हें अब अपने पिता के पास से भी सहायता का ठिकाना नहीं रह गया था। तो भी धीरज बाँध कर वह चले ही जाती थीं।

खैर, मैंने डाक्टर की व्यवस्था कर दी। प्रियव्रत को ताकीद की कि वह मुझे पराया न गिने। और उसकी पत्नी को कहा कि चिंता की कोई बात नहीं हैं।

प्रियव्रत बहुत संकुचित मालूम होता था और खुल कर बात नहीं कर पाता था। उसकी आँखों में एक कृतज्ञता भरी रहती थी जिसका सामना करना मुझे कठिन होता था इसलिए जब तक वश चलता, मैं उसके पास नहीं जाता था। दया (उसकी पत्नी) आकर मुझे हाल-चाल दे जाया करती थीं।

एक दिन उन्होंने मुझे अचम्भे में डाल दिया। आकर कहा कि आप क्यों फ़िज़ूल डाक्टर पर पैसे बरबाद कर रहे हैं ? सब बंद कर दीजिए। उन्हें जीना हो तब न ?

मैंने कहा कि यह क्या कहती हो? डाक्टर तो आराम बतलाता है। कहता है हालत सुधर रही है। और कुछ दिन में स्वास्थ्य लौट आयगा।

उन्होंने व्यंग से कहा कि हां, लौट आया स्वास्थ्य! डाक्टर कुछ जानता भी है? हम आपसे एक पैसा नहीं ले सकते।

मैं सुन कर घबरा सा गया। मैंने कहा, 'क्यों, क्यों क्या बात है?'

दया ने विचित्र स्वर में कहा कि आप एक काम कर सकें तो कर दीजिए। बचनी हुई तो उतने से ही उनकी जान बच जायगी। नहीं तो कोई डाक्टर कुछ नहीं कर सकता।

मैं दया का आशय कुछ भी नहीं समझ सका था।

उसने कहा कि आप को मालूम भी है कि आपका दिया पैसा किस काम आता है?

मैं पहले तो चुप रहा। फिर मानो अनुनय के स्वर में मैंने कहा कि उन सब की चिंता करके मुझे आप कष्ट क्यों देती हैं।

वह बोलीं, 'शराब खरीदी जाती है।'

अनायास मेरे मुंह से निकला, 'शराब!'

दया ने जाने कैसे मुझे देख कर कहा, 'हां, मैं ही खरीद कर लाती हूं। वह कहते हैं कि शराब से वे जो भी रहे हैं। नहीं तो, कभी के मर जाते। मैं जानती हूं यह झूठ है। जानती हूं शराब उन्हें खा रही है पर मुझसे यह भी तो नहीं बनता कि उनकी हालत देखती रहूं और शराब से जो जरा चैन उन्हें मिलता है, उसे भी छीन लूं। मैं आपके हाथ जोड़ती हूं उनकी शराब छुड़वा दीजिए। नहीं तो डाक्टरी बिरथा है। और मैं आप से मांफी मांगती हूं। इलाज के लिए आपसे पैसे लेकर मैं उन्हें शराब देती रही! शराब उनकी मौत है। लेकिन मैं क्या करूं?'

मैंने जाकर प्रियव्रत को सख्ती से डपटा। वह मुझे देखता रहा। कुछ देर सधे मेंमने की तरह चुप-चुप सुनता रहा। सुनते-सुनते एकाएक उसने जोर से धमकी के स्वर में कहा कि मैं उसके सामने से दूर हो जाऊं। जाऊँ, अभी चला जाऊँ। एक मिनिट उस घर में न ठहरूँ। आया हूं उप-

देश देने ! सारा उपदेश अपने पास रक्खूँ और मरने वाले को मरने दूँ। कहा गया कि मुझसे जैसे लोग मरते-मरते भी आदमी को ज़रा चैन न लेने देंगे। आए हैं कहने कि शराब मत पियो ! अरे, किसी का कलेजा देखा है ? शराब से उसका घाव धुलता है। मुझ जैसे बनने चलते हैं उपकारी, जैसे लाट साहब हों। वे क्या जानें शराब की ख़ूबी ! पैसा हो गया, तो भलेमानस हो गए ! मैं रक्खूँ अपना पैसा अपने पास और जाऊँ, लाखों के सामने से इसी मिनिट में दूर हो जाऊँ। नहीं तो—

इस तरह प्रियव्रत कुछ-कुछ कहने लगा।

दया ने ऐसे समय हाथ खींचकर, कंधा हिलाकर, झिड़की देकर बहुत कुछ उसे वर्जन किया। लेकिन प्रतिरोध पर प्रियव्रत की अवशता और बढ़ आती थी। ऐसे समय वह अपनी पत्नी को ही कहने लगता कि तू लंपट है, दुराचारिनी है और मैं सब जानता हूँ। कोई अंधा नहीं हूँ। तू इसे (मुझे) चाहती है। हट, दूर हो, निकल बेहया।

ऐसे समय कहनी-अनकहनी का प्रियव्रत को ध्यान नहीं रहता था। और मुझे बहुत दुःख था। ख़ैर, बहुत कुछ सुनते रह कर मैंने दया से कहा कि मैं अब जाता हूँ। तुम घबराना नहीं।

प्रियव्रत ने चीख़ कर कहा, 'हां, जाओ, जाओ, टलो। मैं किसी का मुहताज नहीं हूँ।'

सुनकर मैं चुपचाप लौटकर चल दिया। लेकिन घर से बाहर नहीं हुआ हूँगा कि एक चीख़ मुझको सुनाई दी। लौटकर आकर देखता हूँ कि प्रियव्रत चादर वादर फेंक कर, पलँग पर उघाड़ा बैठा है। उसके माथे पर चोट का बड़ा-सा नीला दाग़ है जिसमें से थोड़ा-थोड़ा लहू निकल रहा है। प्रियव्रत हाँफ रहा है और ज़ोर-ज़ोर से हाथ फेंक कर कह रहा है कि सब दूर रहो। कोई पास न आओ। मेरी यही सज़ा है, यही सज़ा है।

मालूम हुआ कि कमरे से मेरे ओझल होने पर एक साथ चादर ऊपर से फेंक कर, उठ कर प्रियव्रत ने ज़ोर से अपना सिर पलँग के पाए पर दे मारा था। देख कर दया चीख़ पड़ी थी। वही चीख़ मैंने सुनी होगी।

खैर, मैंने प्रियव्रत को आराम से लिटाना चाहा। वह इसमें मेरा प्रतिकार करता रहा। और बस न चला तो वह मुझे नोचने-खसोटने लगा। मैंने उसके प्रतिरोध को बेकार कर ज़ोर से पकड़कर उसे पलँग पर लिटा दिया। दया को कहा कि पट्टी वट्टी लावे। घबरावे नहीं।

प्रियव्रत बेकाबू होकर बालक की भांति रो आया। वह बार-बार मेरा हाथ पकड़कर चूमने लगा। रोते-रोते उसकी हिचकी बँध गई। उसने कहा कि वह मुझे पहचानता है। और कि वह मरना नहीं चाहता, बिलकुल नहीं चाहता। उसने मुझसे पूछा कि मैं उसे बचा लूँगा न?

मैंने उसे ढाढस बँधाया। और वह बार-बार यही पूछने लगा कि वह मरेगा तो नहीं? दया, ओ दया, मैं मरना नहीं चाहता। मैंने तुम्हें हमेशा तकलीफ़ दी। मैं निकम्मा हूँ, लेकिन मैं मरना नहीं चाहता। दया तेरे उपकार का बदला देने के लिए जीना चाहता हूँ। विद्याधर, मैं मरना नहीं चाहता। मैं नए सिरे से जीना चाहता हूँ पर—ऐं—नहीं मुझे मरना चाहिए। मैं पापी हूँ। विद्याधर, मुझे छोड़ो। मैं पापी हूँ।

पट्टी ठीक ठाक कर, और उसे डाक्टर के सुपुर्द कर मैं चला आया। दया को कहता आया कि सेवा के अतिरिक्त कुछ भी चिन्ता न रक्खे। ईश्वर बाक़ी देख लेगा।

ईश्वर बाक़ी अवश्य देख लेगा, इसमें तो संदेह नहीं है। लेकिन फिर भी तो संदेह होता ही है। पर ऐसे समय ईश्वर से इस ओर का कोई भी तो और शब्द धीरज बँधाने के काम में नहीं आता!

३

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि आगे दिनों की ही बात थी और प्रियव्रत मर गया। वह यह कहते-कहते मरा कि मैं मरना नहीं चाहता, दया! मैं मरना नहीं चाहता, विद्याधर देखो मुझे बचा लो!

: १८ :

चालीस रुपये

चालीस रुपये आये और गये। फिर आये और फिर गये। इस चक्कर में उनसे एक कहानी बन गई। उसी का वृत्तांत सुनाता हूँ।

आप वागीश को जानते न हों, पर नाम सुना होगा। आदमी वह कुछ यों ही है। खैर, वह अपने कानपुर से इलाहाबाद जा रहा था। उतरा और ताँगे पर पहुँचा तो देखता है कि एक औरत उसके पीछे खड़ी है। गिड़गिड़ा रही है और वह कुछ चाहती है। गोद में बच्चा है। मैली-सी धोती पहिने है, जिसको सिर पर खींच कर आधा घूँघट-सा कर लिया है।

वागीश (यह उसका किताबी नाम है) को इस तरह की बातें अच्छी नहीं लगतीं। उसे छीनना अच्छा लग सकता है, माँगना बुरा लगता है। एक बार कुरते की नीचे की जेब में रूमाल पड़ा था, जिसमें कुछ पैसे थे। किसी ने उसे ऐसा साफ़ खींचकर निकाल लिया कि क्या बात! यह वागीश को अच्छा लगा। उसकी तबियत हुई कि वह हुनरमन्द मिले तो कुछ उसको इनाम दिया जाय। आखिर यह भी हाथ की सफ़ाई है। एक बार ऐसी साफ़ जेब कटी कि क्या कहना! उसके बाद ब्लेड लेकर उसने अपने कोट पर खुद हाथ आज़माया कि वह सफ़ाई उसे भी नसीब हो। जेब किसी की काटनी नहीं है, यह दूसरी बात है। पर, हाथ की सफ़ाई तो अपनी चाहिये! इसलिए जनाब ने कोट को जगह-जगह से नश्तर देकर चाक-चाक कर दिया। पर आखिर तक उन्हें तसल्ली नहीं हुई कि कला-

वन्त की खूबी का सौवाँ हिस्सा भी उनकी तराश में आ सका है। तब सोचा था, कोई उस्ताद गिरहकट मिले तो उससे हस्तलाघव सीखेंगे।

लेकिन यह क्या कि गिड़गिड़ा कर माँगा जा रहा है। उन्होंने चेहरे को सख्त किया, कहा—"क्या है ? हटो, हटो।"

पर स्त्री हटी नहीं; बल्कि और पीछे लग गई।

ताँगे में बैठते-बैठते वागीश ने झल्लाकर कहा—"क्या है ? पैसा पास नहीं है। चलो रास्ता देखो।"

ताँगे में बैठकर आधे घूँघट में से उसका चेहरा दिखाई दिया। ठोड़ी पर गोदना गुदा था। उम्र होगी पचीस वर्ष। बदसूरत न थी, खूबसूरत तो थी ही नहीं। नेक-चलन न होगी। और गोद के चिपटे बच्चे के सिर पर खाज के दाग़ थे, हाथों पर खरोंच।

वागीश ने डपट कर कहा—"चलो हटो, जाओ।"

ताँगे वाले ने कहा—'चलूँ बाबू जी ?'

स्त्री ने हाथ फैलाया, बोली—"तुम्हारी औलाद जिये बाबू। धन-दौलत मिले। बच्चा भूखा है। उसका बाप नहीं है........!"

"तो माँगती क्यों है ? काम कर ! यह ताँगा क्यों पकड़ रखा है ? छोड़ हट।"

"क्या काम बाबू ? तुम्हारे औलाद-पुत्तर जीयें !"

"काम करो—काम। हराम का नहीं खाते हैं।"

इस हराम और काम के सिद्धान्त को वह खुद नहीं समझ पाता था। इससे जूते के अन्दर बँधे उसके पैर स्त्री ने पकड़े तो सङ्कट में उन्हें पीछे खींचते हुए वह घबरा कर बोला—"हैं, यह क्या करती हो ? बोलो, काम करने को तय्यार हो ?"

स्त्री ने कहा—"हाँ; बाबू।"

उस समय वागीश जैसे अपने से ही घिर गया। कह पड़ा—"तो चलो मेरे साथ, तुम्हें काम मिलेगा।"

२

दो रोज़ के लिए इलाहाबाद आया। मित्र ने पूछा कि यह क्या नये क़िस्म का सामान अपने साथ ले आये हो, तो वागीश कोई ठीक समाधानकारक जवाब न दे सका। कहा—"उससे चक्की पिसवाओ जी। सब कामचोर होते हैं। चक्की सामने देखकर अपना रास्ता लेगी।"

मित्र को लगा तो विचित्र, पर वागीश ही विचित्र था। मित्र ने कहा—"वागीश! तुम हो अजब कि अपने पीछे बला मोल लेते फिरते हो।"

वागीश ने कहा कि मोल कहाँ लेता हूँ। मोल में कुछ देने को हो तो भी क्या फिर बला ही लूँ? पर बिन मोल जो सर पड़े, उसका क्या हो? देखो माँ और बच्चे के लिए एक धोती-कमीज़ ठीक-सी निकलवादो और उनके कपड़े आग के हवाले करने को कह दो।

खैर, इस तरह पहला दिन बीता। नये कपड़ों में वह स्त्री भी नई हो आई और काम से उसने जी नहीं चुराया। आठ सेर गेहूँ उसने पीसा, जिसकी मज़दूरी वागीश ने दो आने दी। कुछ उसने चर्खा काता, कोठी में झाड़ू दी और थोड़ा-सा बच्चों का काम भी सँभाला।

वागीश को इस पर गुस्सा हुआ। समझता था कि एक बार आवारा हुआ उससे काम फिर होना जाना क्या है? इसलिए झक मार कर यह आप ही भाग जायगी। चलो, झँझट छूटेगा। इसका उसे विश्वास था। वह विश्वास ठीक नहीं उतरा, तो वह मन ही मन उस औरत से नाराज़ हुआ।

अगले सवेरे बरामदे के बाहर आराम कुर्सी पर बैठा था। हाथ में अख़बार था, यद्यपि पढ़ नहीं रहा था। मन उस वक्त खाली था। कल की बात का उसे ख़याल आता था कि काम करना चाहिए, हराम का नहीं खाना चाहिये। कल से आज तक जो उसने किया वह काम है कि हराम है, यह ठीक तरह उसकी समझ में नहीं आ रहा था। कल उसने शाम को मोटर में जाकर कुर्सी पर बैठकर डेढ़ घण्टे तक एक सभापतित्व किया था। अन्त में कुछ बोला भी था। इस कष्ट के लिये उसे बहुत धन्यवाद

मिले थे। वह काम है कि हराम है; यह जानना चाह रहा था। वह स्त्री बरामदे में झाड़ू दे रही थी। अकारण वागीश ने गुस्से से कहा—'यहाँ आओ!'

स्त्री ने मुँह ऊपर किया, प्रतीक्षा की और फिर मुँह नीचे डाल कर झाड़ू में लग गई।

वागीश ने 'यहाँ आओ' कहने के साथ उधर मुँह फेरने की ज़रूरत नहीं समझी थी और रोष-भाव से सामने के बगीचे को देखता रहा था। उत्तर को कोई पास नहीं आया तो उसने और भी धमकी से कहा—"सुना? इधर आओ!"

इस पर झाड़ू छोड़, धोती सिर पर संभालती हुई वह स्त्री पास आ गई। घूंघट इस बार अतिरिक्त भाव से आगे था। वागीश को बुरा लगा। उसके मनमें हुआ कि यह पर्दा ही ऐबों को ढकता है। बोला—"तुम अब क्या चाहती हो?'

स्त्री आंखें नीची करके और उसके आगे धोती की कोर को एक हाथ से तनिक थामे चुप खड़ी रही, जवाब नहीं दिया।

"बोलो, क्या चाहती हो? अब तुम जा सकती हो।"

स्त्री ने फिर कुछ जवाब न दिया।

वागीश ने कहा, "देखो, मैं कल यहां से चला जाऊँगा। वह मेरा घर नहीं है, तुम देखती ही हो। इसलिए तुम यहां से आज शाम तक जा सकती हो।"

जब देखा कि स्त्री अब भी कुछ जवाब नहीं देती है तो वागीश ने कहा—"दूसरों के सिर पर पड़ना ठीक नहीं होता, न भीख मांगना ही ठीक होता है। तुम्हारे बदन में कस है और तुम काम कर सकती हो। आवारा फिरते तुम्हें शर्म नहीं आती? कहीं नौकरी देख सकती हो। मैं यहां से कल चला जाऊँगा।"

स्त्री फिर भी चुप रही। इस पर वागीश ने कड़क कर कहा—"खड़ी क्या हो? सुन लिया; अब जाओ काम करो।"

यह कह कर उन्होंने अख़बार खोला और स्त्री जाकर झाड़ू देने लगी।

उस रोज़ स्त्री ने ग्यारह सेर आटा पीसा, घर के कुछ कपड़े भी धोये, झाड़ू दी और ऊपर से चर्खा भी काता।

यह सब कुछ वागीश को खुश करने की जगह उलटे नाराज करता था। औरत उसके हिसाब के मुताबिक़ फ़ाहिशा, कामचोर और तेज़ ज़बान निकलती, तो उसे सन्तोष होता। सवेरे की अपनी बातचीत के पीछे उस के मनमें कोमलता आई थी। सोचा था कि दो-एक तसकीन की बात उस से करेंगे। पर दिन में फ़ुर्सत नहीं मिली और शाम को आया तो मालूम हुआ कि स्त्री ने दिन भर मुस्तैदी से काम किया है। बस, इस एक बात से उसका मन बिगड़ गया। उसे बुला कर ताकीद से कहा—"सुना न तुम ने कि मैं कल जा रहा हूं? तुम्हें जो चाहिए सो कहो और मेरे दोस्त का पिण्ड छोड़ो। उन्होंने तुम्हारे खाने-पहिनने का कोई जिम्मा नहीं लिया है! आज आटा पीसा?"

स्त्री चुप रही।

"सुनती हो; पीसा कि नहीं? कितना पीसा?"

धीमे से स्त्री ने कहा—"दस सेर!"

आटा पूरा ग्यारह सेर तुला था यह भाभीजी से वागीश को मालूम हो चुका था, भाभीजी अधूरा काम नहीं करती थीं। साढ़े ग्यारह सेर हो तभी उनके हाथ कोई चीज़ ग्यारह सेर तुल सकती थी। पर स्त्री ने बताया दस सेर! सुनकर वागीश को गुस्सा चढ़ आया। कहा—"दस सेर! कुल दस सेर? दिन भर क्या करती रहीं?"

स्त्री को चुप देख, कुछ देर बाद कहा—"खैर, यह लो?"—कह कर ग्यारह पैसे मजदूरी के उसकी हथेली पर रख दिये। पूछा—"और चरखा?"

"काता था।"

"उसकी मजदूरी कितनी हुई, बतलाओ? मुझे कल चला जाना है।"

स्त्री चुप रही तो धमका कर कहा—"बतलाती क्यों नहीं हो ? ग़रीब से मैं कोई मुफ्त मेहनत नहीं ले सकता।"

काफ़ी धमकाया गया तो स्त्री ने कहा—"जो आप जानें।"

वागीश ने चार आने निकाल कर दिये। कहा—"यह तो वाजिब से ज्यादा ही है।"

स्त्री ने इस पर एक इकन्नी वापिस लौटाते हुए कहा—"तीन आने बहुत हैं।"

वागीश को बहुत बुरा लगा। बोला—"ग़रीब की मेहनत मुफ्त खाने वाला इस घर में कोई नहीं है; अपने पास रक्खो। अच्छा, दो दिन तुमने यहाँ काम किया है, उसका क्या हुआ ?"

स्त्री चुप रही। वागीश ने ज़ोर से कहा—"बताती क्यों नहीं हो ?" क्या हुआ ? जैसे बड़ी रईसज़ादी हो।"

स्त्री धीमे से बोली—"मुझे यहाँ खाना-कपड़ा...."

वागीश ने डपट कर कहा—"चुप रहो। खाना यहां मोल नहीं बिकता। बस, चुप ! ठीक बोलो, दो दिन का तुम्हारा क्या हुआ ?"

वह कुछ नहीं बोली। कुछ देर जैसे वह भी अनिश्चय में रहा; फिर कहा—"अच्छा, वह चार आने मुझे देना तो।"

स्त्री ने पैसे वापस कर दिये। वागीश ने एक रुपया निकाल कर उस के हाथों में देते हुए कहा—"बारह आने ठीक हैं न ? इतनी मज़दूरी और किसी को नहीं मिलती। ग़रीब जानकर तुम्हें दे रहे हैं।"

इसके बाद वागीश चुप रहा और स्त्री भी चुप रही। थोड़ी देर बाद बोला—'तुम्हारा नाम क्या है ?"

"गेंदो।"

सुन कर वागीश फिर चुप पड़ गया। थोड़ी देर बाद बोला—"हाँ, तो तुम अब चली जाओ। कल मुझे जाना है। इनके ऊपर तुमको नहीं रहना चाहिए।"

उसे चुप ही खड़ी देख पूछा—'क्या कहती हो ?'

स्त्री ने जो कहा उसका आशय था कि कल मुझे वहीं स्टेशन ले जाकर छोड़ देना, अकेली मैं रास्ता नहीं जानती।

साथ कल इसे स्टेशन ले जाना होगा, यह बात वागीश को बहुत अप्रिय हुई। स्टेशन भी क्या कोई मुहल्ला है! स्टेशन पर घूमती रह कर यह औरत विष ही फैलायगी, और क्या करेगी, आदि बातें मन में लाकर वागीश ने उसे डाटा, समझाया, उपदेश दिया। सब वह स्त्री पीती चली गई। आख़िर बहुत पूछने पर उसने मुंह खोला ही तो पता चला कि उन्नीस रुपये एक कर्ज के उसे जमा करने हैं। वह रक़म दी जाय तब भीख मांगना वह छोड़ सकती है।

वागीश के जी में तो आया कि कहे कि तुम चाहे नरक में पड़ो, मुझ से मतलब? भीख माँगना छोड़ोगी तो किसी पर अहसान नहीं करोगी, जो ये उन्नीस रुपये जमा होने की बात कहती हो। काम करो और पसीने में से धेला पाई जोड़ क़र्ज चुकाओ। इत्यादि। पर वागीश ने कहा कुछ नहीं।

इलाहाबाद में 'छाया' अख़बार का मशहूर कारोबार है। अगले दिन ग्यारह बजे वागीश उसीके दफ्तर में बैठा था। नाम की चिट मैनेजर साहब को भेज दी गई थी और वह याद किये जाने की प्रतीक्षा में था। क्लर्कों की क़तारें काम कर रही थीं और घड़ी चल रही थी। सब व्यस्त थे। वागीश अकेला था कि कब पूछा जाय।

आख़िर उसने सोचा कि कारोबार बड़ा है, फ़ुर्सत कम है; देर होनी ही चाहिए। लेकिन अब मैं चलूँ। फिर भी मन मार कुछ देर बैठा ही रहा।

पर काम बँधा था और मैनेजर की मुश्किल मैनेजर ही जान सकता है। वागीश उस मुश्किल को न जानकर आख़िर कुर्सी से खड़ा हुआ और लौट चला।

इतने में और काम जल्दी-जल्दी निबटा कर मैनेजर लौट रहे थे। बरामदे में एक आदमी को देखकर कहा—"आप!"

वागीश ने ठिठककर कहा, "जी, मैं मैनेजर साहब से मिलना चाहता था।"

"फ़रमाइए।"

वागीश ने कहा, "मेरे नाम की चिट आपको मिली होगी?"

"ओह" आप वागीश हैं, आइए-आइए!"—कहकर हाथ में हाथ लेकर मैनेजर वागीश को ले चले।

वागीश रास्ते में उनके निजी दफ्तर में कुर्सी लेकर बैठने को हुआ कि मैनेजर ने कहा, "ओह, यहाँ नहीं। यहाँ शोर-गुल क़रीब है। दफ्तर जो है! आइए, अन्दर चलिए।"

इस तरह निजी ड्राइङ्गरूम में ले गये और वहाँ खातिरतवाज़ो की। कहा, "ठहरे कहाँ हैं? यह आप ही का घर था। क्या-आ........। वह ताँगा आपका है? अरे भाई देखना—(घण्टी—चपरासी आता है।) देखो, बाबू साहब का ताँगा खड़ा है। उसे हिसाब करके रवाना करो! ओह, नहीं-नहीं, आप रहने दीजिए। क्या देना होगा? डेढ़ घण्टा—तेरह आने। देखो तेरह आने छोटे बाबू से दिलाओ और सफर-खर्च खाते डालो। वाउचर यहाँ लाने को कहो (चपरासी चला जाता है) हाँ, यह बतलाइये वागीशजी, कि आप हमसे ख़फा क्यों हैं? इतने ख़त गये, एक का जवाब नहीं। हम पत्रिका को ऊँची बनाना चाहते हैं—आला स्टैण्डर्ड। आप जैसों के सहयोग से यह हो सकता है। पर आप तो ऐसे नाराज़ हैं कि ख़त का जवाब नहीं देते!"

वागीश ने कहा, "वह वागीश अब है कहाँ जो कहानी लिखता था? वह तो मर गया। क्या आप लोग चाहते थे कि वह न मरता? या अब चाहते हैं कि न मरे।"

"वाह-वाह! यह आप क्या कहते हैं? इरशाद कीजिए, हम हाजिर हैं। विजनेस की हालत तो आप जानते हैं! काग़ज़ की महँगी तो कमर तोड़े डालती है। फिर भी जिस लायक़ हैं, हम पीछे न रहेंगे। आप जो कहिए, सिर-आँखों पर। दस, पन्द्रह, बीस, चालीस—आप कहकर तो देखिये।

लेकिन हम हर महीने आपकी एक कहानी चाहते हैं। अपने यहाँ कहानी लेखक हैं कितने ! हैं कहाँ ? विलायतों में देखिए, वहां लोग हैं ऊँचे दर्जे के, और उनकी क़द्र भी है। मगर यहाँ आप हैं और दो-चार और गिन लीजिए, वे भी लिखें नहीं तो हम क्या कूड़े से अपना अख़बार भरें ? आख़िर आप ही कहिए ! देखिए वागीश जी, एक कहानी आप हमको हर महीने दीजिए और रकम जो इरशाद फरमाइए हाज़िर करूं। सच कहता हूँ, मेरी मंशा है कि अख़बार का और उसके ज़रिए हिंदी का स्टैण्डर्ड बने। विलायती किसी पत्रिका से आपकी यह पत्रिका टक्कर ले सके, जी हां। और आप लोगों की इनायत हो तो यह क्या कुछ मुश्किल काम है........?"

वागीश अपने में सङ्कुचित था। कुछ इस वजह से भी कि बीस रुपए की ग़रज़ लेकर वह यहां आया था। कानपुर से चला तो दस रुपए उसकी जेब में थे। क्या ख्याल था कि राह में जहमत गले आ पड़ेगी। अब बीस रुपए यहां से लेकर उस औरत के माथे पटक देगा और किनारा लेगा। यह सोच कर वह आया था। यहां आने पर ख्याल हुआ कि कहां मेरी लापरवाही कि इतने ख़तों का एक जवाब नहीं दिया, और कहाँ इन का यह सलूक कि ख़ातिर से मुझे छाये दे रहे हैं। कहा—'जी नहीं, वह तो आप की कृपा है। लेकिन सच मानिए कि मैं कहानी भूल गया हूं। किस मुंह से आप को आस दिलाता ? और आसभरा पत्र न भेज सकूं तो सोचा कि इससे तो शर्म रखने के लिए जबाब टाल जाना ही बेहतर है। पत्र न लिखने के कसूर की वजह, सच मानिए, मेरी यह शर्म ही है।'

'वाह-वाह ! यह आप क्या कहते हैं ! आप जो लिखेंगे कि एक चीज़ होगी। कहिए, क्या मंगाऊँ ? पेशगी रखिए, बाद में जब हो लिखते रहिएगा। सब आप ही का है। बोलिए, फ़रमाइये ! पर एक कहानी हर नम्बर में आपकी हो, तब है !'

वागीश ने मुँह खोला—'बीस रुपये !'

'बीस ! तो वाह, यह लीजिए । (घण्टी) देखिए, हर महीने एक उम्दा कहानी हमको दीजिए और अख़बार अपना समझिए । (चपरासी आता है ।) देखो, चालीस रुपये लाने को कहो और रसीद भी बना लावें । हाँ बागीश जी, आपका सामान यहीं क्यों न मंगवा लूँ ? एक बार ग़रीब का भी घर सही, मोटर में दस मिनट में आ पहुँचेगा ।'

बागीश ने माँफी माँगी और धन्यवाद दिया ।

रुपये और रसीद लेकर बाबू आया तो वागीश ने कहा—

'देखिए, मैं इधर कुछ लिख नहीं रहा हूँ । लिखा ही नहीं जाता । इससे नहीं जानता कि आपको आपकी कहानी कब आयगी । दो-तीन महीने भी लग सकते हैं ।'

'तीन महीने ! बहुत बेहतर, तीन सही । लेकिन चौथे महीने में उम्मीद करूँ !'

'जी हाँ, चौथे महीने कहानी न आने की तो कोई वजह नहीं दीखती। आप जानिए, एक मुद्दत से मश्क छूट गई है ।'

'वाह-वाह ! यह भी आप क्या कहते हैं ! आपकी क़लम क्या मश्क़ की मोहताज है ? कलम उठाने की देर है कि फिर क्या है ।'

रुपये मिल गये । एक आने के स्टाम्प की रसीद भी हो गई । मैनेजर ने कहा—'क्या आप जायँगे ? जी नहीं, अभी नहीं । किसी हालत में अभी आप नहीं जा सकते हैं । और रिहाई होगी तो एक वादे पर । वह यह कि आप आयन्दा यहीं ठहरिएगा ।'

वागीश ने इस वक्त के लिए तो लाचारी जतलाई । हां, आयन्दा वह यहीं आयगा । अभी तो एक मित्र के यहाँ पहुँचना है । इस पर मैनेजर बहुत निराश थे । तो भी उन्होंने तत्परता से मोटर लाने को कहा । जहाँ पहुँचना हो, मोटर, उन्हें पहुँचा देगी । मैनेजर वागीश के साथ पोर्च तक आये । ड्राइवर से कहा—'बाबू जहां कहें ले जाओ ।' घड़ी में समय देख कर वागीश से पूछा— 'आपको वहां से फिर कहीं जाने के लिए

तोमीटर दरकार नहीं होगी ? दो बजा है। पौने तीन बजे मुझे एक एपाइण्टमेण्ट है।'

वागीश ने सधन्यवाद कहा—'जी नहीं, पहुँचा कर गाड़ी सीधी आ सकती है।'

(ड्राइवर से) अच्छा, तो बाबू को पहुंचा कर यहां सीधे गाड़ी ले आना। अच्छा, वागीश जी देखिए मेहरबानी रखिएगा। और ख़ादिम को याद फ़र्माइएगा।'

४

आज ही शाम की गाड़ी से वागीश को जाना था। उसने मित्र से पूछा कि उन्हें कामकाज को किसी नौकरानी की जरूरत तो नहीं है न ? हां, मित्र को जरूरत न थी, पर स्त्री को और कोई ठिकाना न हो तो कुछ महीने उसे निबाहने को तैयार थे। इतने में कहीं दूसरी जगह उसके लिए देख दी जायगी। वागीश ने स्त्री से पूछा। मालूम हुआ कि वागीश उसे खुद वहीं स्टेशन के पास छोड़ आयें, इसके सिवा वह और कुछ नहीं माँगती। वागीश ने समझाया कि यहाँ आराम से रहेगी और दस रुपये के हिसाब से दो महीने में बीस रुपया जमा-पूंजी हो जायगी। पर नहीं, वह साथ स्टेशन जायगी।

वागीश को बुरा मालूम हुआ, पर मित्र को भला मालूम हुआ। औरतज़ात का उन्हें भरोसा नहीं, फिर जिसने खुली हवा देखी हो ! उस दिन सवेरे ही उठकर स्त्री ने दस सेर आटा पीसा था, झाड़ू दी थी और महरी न आने की वजह से कहने पर चौका-बासन भी उसी ने किया था। इसकी मज़दूरी में वागीश ने आठ आने दे, भरपाई की थी।

आज स्त्री ने अपने पुराने कपड़ों की बाबत पूछा था। वह इन कपड़ों को यहीं उतार जायगी। पर मालूम हुआ है कि उसके कपड़े नहीं हैं। सुनकर मालकिन के कमरे की दहलीज़ पर सिर नवाते समय उसने अपनी गाँठ के कुल पौने दो रुपये निकाल कर रख दिये। यह देख कर मालकिन

आग-बबूला हो गई। फुफकार कर अपनी जगह से उठ आकर लात से सब पैसे दूर फेंक दिए और उसे फ़ौरन घर से निकल जाने को कहा और अपने सामने से हट जाने पर भी तरह-तरह के दुर्वचन मुँह पर लाकर वह बड़बड़ाती रही। वह स्त्री बिना कुछ कहे फेंके हुए पैसे बीन कर किसी न किसी काम में दूर हो रही।

खैर, वागीश उसे ताँगे में बिठा कर चला और रास्ते में बीस रुपये उसे सौंप दिये। देने के साथ उसे बहुत सख्त-सुस्त भी कहा। स्त्री ने रुपये ले लिये और चुप रही। वागीश ने कहा—"तुमको शर्म आनी चाहिये कि एक इज्ज़त की नौकरी मिलती थी सो तुमको नहीं सुहाई। मैं जानता हूँ कि तुम फिर वही हाथ फैलाती फिरोगी। पर, तुम में गैरत होगी तो, बीस रुपये ये जो तुमको दिये हैं, इसके बाद बैठ कर कुछ काम-हीले से लगोगी। यह नहीं कि बेहया-सी घूमो और भलेमानुसों को तङ्ग करो। एक शरीफ़ आदमी ने तुम्हें ऐसी इज्ज़त से रखा, खाना-पहनना दिया, ऊपर से मेरी ख़ातिर दस रुपये माहवारी देने को तैयार हुए और तुम ऐसी कि उनके उपकार को एक नहीं गिना। तुम्हारे काम से मैं समझा था कि तुम में समझ होगी। लेकिन खैर जाने दो। यहाँ रहती कहाँ हो?"

"कहीं नहीं।"

"कहीं तो रहती हो?"

"कहीं रह लेती हूँ।"

सच पूछो तो वागीश को बेहद बुरा लगा। वह जल्दी इस बवाल से छुट्टी पाना चाहता था। उसे सुध आई कि स्टेशन पर कुली और दूसरे लोग क्या सोचेंगे। यह ख़्याल अब तक नहीं आया था, अब आया तो सचमुच यह सब कुछ बड़ा बेतुका लगा और शर्म मालूम हुई। सो अपनी काफ़ी नसीहत खर्चकर गुमसुम हो रहा। वह जैसे इस बातको यहीं एकदम समाप्त देखना चाहता था। ऐसी ही गुमसुम हालत में था कि सुना, स्त्री पूछ रही है—'आप कहाँ जायँगे, बाबू साहब?'

'कानपुर ।'

जवाब में यह एक शब्द झटके से मुंह से बाहर फेंक कर बिना उस ओर देखे वह अपनी जगह बैठा रहा । ताँगे में वह कोचवान के बराबर आगे बैठा था । बच्चे को लेकर स्त्री पीछे बैठी थी । वागीश मन में मानता था कि ताँगे वाला जानता है कि यह औरत मेरे साथ नहीं है, ताँगे वाले ने उनकी बातें सुन ली होंगी । ताँगे वाले की उपस्थिति के कारण बातें कुछ अतिरिक्त जोर से कही जा सकी थीं ।

कुछ देर बाद स्त्री ने पूछा—'वहीं रहते हैं ?'

गुस्से में वागीश ने अत्यन्त संक्षिप्त भाव से कहा—'हाँ ।'

कुछ देर चुप रहने के बाद स्त्री ने कहा—'कानपुर तो बहुत बड़ा है । वहाँ कहाँ रहते हैं ?'

वागीश ने असह्य बन कर कहा—'तुम चुप नहीं रह सकती हो ?'

स्त्री चुप हो गई; उसके बाद नहीं बोली । स्टेशन पहुंच कर तत्परता से वागीश ने कुली बुलाया । उसके सिर पर सामान रखा और चलने को था कि कुली ने पूछा—'बस बाबू, सब सामान हो गया ? वागीश को सहसा याद आया और कहा—ताँगे के वहाँ नीचे सूटकेस है ।' कुली ताँगे के पीछे आकर बोला–'उतरो बहू जी ।'

स्त्री अब तक अपनी जगह ही बैठी रह गई थी । सुनकर एकदम चौंकी और झटपट ताँगे से उतर आई । कुली ने कहा—'ड्योढ़ा दर्जा, बाबू जी ? बहूजी प्लेटफारम पर चलती हैं, आप टिकट लाइए ।'

वागीश ने अनायास कहा—'टिकट है ।'

स्त्री सुध खोई खड़ी थी । वागीश ने झल्लाकर कहा—'क्या खड़ी हो, चलो । कुली के साथ चलो !'

कुछ देर ठिठक कर स्त्री कुली के साथ बढ़ गई । इतने में वागीश के कन्धे पर थापी पड़ी । पीछे मुड़ कर वागीश क्या देखता है कि हँस रहे हैं बाबू रामकिशोर !—'हेलो वागीश कानपुर चल रहे हो ? मैं भी चल रहा हूं । यह कौन हैं ?'

वागीश ने कहा—'कौन ?'

रामकिशोर ने कहा—'यही, जो साथ हैं ?'

वागीश ने कहा—'साथ कौन ? कोई नहीं ।'

रामकिशोर ने कहा—'अच्छा, कोई न सही ।'—और वह मुस्करा दिये । वागीश किसी तरह रामकिशोर से किनारा काट तीर की तरह प्लेटफार्म की तरफ बढ़ गया । रेल आई न थी । कुली के हटने पर उसने स्त्री से कहा—'देखो, तुमने मुझे कैसे झमेलेमें डाल दिया है । अब तुम जाओ ।'

स्त्री एक तरफ मुंह झुका कर खड़ी थी—वहीं खड़ी रही ।

'जाओ ।'

'चली जाऊंगी ।'

'कब चली जाओगी, जाओ ।'

'आप चले जायेंगे तब मैं भी चली जाऊंगी ।'

'तब क्यों, अभी जाओ !'

सुनकर नहीं कह सकते कि क्या हुआ । स्त्री एकदम बदली दीखी । वह मुस्कराई और बोली—'अभी न जाऊं तो ?'

वागीश की छाती पर जैसे किसी ने मुक्का मार दिया । वह सन्न रह गया, बोला—'क्या मतलब ?'

स्त्री और भी मुस्कराहट के साथ बोली—'आपका मैं क्या बिगाड़ रही हूं ? कहती हूं, चली जाऊंगी । प्लेटफारम सब का है ।'

वागीश उस प्रगल्भ नारी की तरफ आंख फाड़ कर देखता रह गया—'तो तुम नहीं जाओगी ?'

मुस्कराती हुई बोली—'न, नहीं जाऊंगी ।'

वागीश इस पर कुछ देर खोया । फिर असमंजस काट कर बोला—'अच्छी बात है । तो तुम्हें खड़ी देखकर लोग क्या समझेंगे ? सामान पर बैठ क्यों न जाओ ?'

सुनते ही वह होल्दार पर खुद बैठ गई और चमड़े का सूट अलग सरकाकर बोली—'आप भी बैठ जाइए ।'

वागीश भी बैठ गया। तब स्त्री बोली—'मुझे स्टेशन पर छोड़ जाते तुम्हें कुछ विचार नहीं होता है। तुम्हें किसी भी नौकरानी वगैरह की जरूरत नहीं है। बस, खाने-कपड़े पर मैं पड़ी रह सकती हूं। मैं पीस लेती हूं, झाड़ू-बुहारी, चौका-बासन कर लेती हूं, कपड़े धो लेती हूं। ऐसी किसी नौकरानी की तुम्हें जरूरत नहीं है।"

वागीश ने उसे देखा। कठोर होकर कहा—'नहीं, मुझे जरूरत नहीं। मैं अमीर नहीं हूं।'

"मैं कुछ नहीं माँगती, रूखे-सूखे में रह लूँगी। पर तुम समझदार होकर स्टेशन पर मुझे कहाँ छोड़े जा रहे हो ?"

वागीश को बहुत-बहुत बुरा लगा। उसने कहा—'मुझे नहीं मालूम था कि तुम ऐसी होगी ! तुम क्या चाहती हो ? यह लो, मेरे पास बीस ही रुपये और हैं। लेकर कोई मेहनत-मजूरी देखो।'

स्त्री ने चुपचाप रुपये ले लिये। कुछ नहीं कहा; बस वागीश के मुंह की तरफ देखती रही।

आगे बातचीत का मौका नहीं मिला। सामान के लिए कुली आ पहुंचा था। रेल आने वाली देख कर स्त्री तत्परता से उठ कर अलग खड़ी हो गई। रेल आई, कुली सामान लेकर ड्योढ़े दरजे की तरफ बढ़ा। वागीश भी जगह की जल्दी में मानो उधर बढ़ गया। स्त्री अपनी जगह से हिली न डुली, वहीं रह गई।

चलती रेल से वागीश ने देखा कि स्त्री जाती हुई रेल की तरफ मुंह किये वहीं की वहीं खड़ी थी।

५

वागीश को यह क्या हुआ ? वह बदलने लगा। लिखना कम होगया। निर्द्वन्द्वता कम हो गई। लोगों से मिलने-जुलने की तबियत न रही। परिवार में रहकर वह अकेला पड़ने लगा। जैसे अनजान में भीतर बैठकर कुछ उसे कुतरने लगा हो।

असल बात यह कि अन्त तक वह सवालों को अपने से ठेलता आया था। समझता था कि यही उनका सुलझाना है। वह आजाद था और किसी अंतिमता को नहीं मानता था। सब ठीक है, क्योंकि सब गलत है। इसलिये जीवन को एक अतिरिक्त हँसी-खुशी के साथ निभाये चले जाने को हठात् सब कुछ मान कर बिन-पाल तिरती नाव की तरह वह लहराता चला जा रहा था। ऐसे ही में वह लेखक बन गया। महान् वस्तु उसके लिये विनोद की हो सकती थी। जीवन की तरफ एक खास हलकेपन का दृष्टिकोण उसमें बस गया था। श्रद्धेय पुरुष उसकी कलम के नीचे व्यंग बने रहते थे और सिद्धाँत वहम। इस कारण लेखक की हैसियत से वह बहुत लोक-प्रिय था। एक की पूजा का विषय दूसरे के हास्य का विषय बने इससे अधिक आनन्द की बात क्या है। इस तरह दुनिया के सब पूजितों को उपहास्य और सब मान्यताओं को मूर्खता दिखाकर वह अधिकाँश लोगों का मन खुश करता था। यों बौद्धिक दृष्टि से दुनिया का वह बहुत उपकार भी करता था। उपकार, क्योंकि वहम तोड़ता था। पर अपकार भी करता ही था, क्योंकि श्रद्धा तोड़ता था। पर इस बार इलाहाबाद से लौटकर वह जैसे खुद चक्कर में आ गया था। अब तक लेखनी के रास्ते व्यङ्ग और विनोद करने और नीति को अनीति की सीख देने में उसे कुछ कठिनाई नहीं हुई थी। काम मजे का था, शोहरत देता था और पैसा लाता था। पर पैसे पर वागीश नहीं रुक सका। इस से पैसा भी वागीश पर नहीं रुका। इस हाथ लें, उस हाथ दे, बस यह हाल था। लेने वाला हाथ खाली रहे उतने काल देने वाले हाथ को भी कुछ आराम मिल जाता था। पर इधर से आया नहीं कि उधर गया नहीं। इस हालत में व्यसन बेचारा कोई उसे क्या लग सकता था। व्यसन है लत, लत लाचारी होती है। पर दोस्तों में बैठकर शराब चख ली थी। और रङ्गीनियों में किसी सङ्गी-साथी का साथ निबाह दिया यह दूसरी बात है। यह तो शिष्टता है। नहीं तो धर्म का दम्भ न हो जाय। अतः बिगाड़ के रास्ते पर बड़े मजे के साथ बिगड़ते मित्र के साथ वह कुछ कदम चल लेता था। यह वह अपना कर्तव्य मानता

था। पर उसमें खुद बिगड़ने की शक्ति न थी। वह कुछ बना ही ऐसा था कि क्षण उस पर से गुजर जाते और यह उन पर से गुजर जाता था। दोनों एक दूसरे को छूते या अटकाते नहीं थे। जो हुआ पार हुआ; उसका बंधन कैसा ? यहाँ तक कि याद, पुनर्विचार, पश्चाताप आदि के अस्तित्व की बात उसे समझ न आती थी।

पर इलाहाबाद से आकर यह उसे क्या हुआ ? दुनिया को अब तक मजे से देखता था और उस में मजे से विचरता था। सैरगाह और तमाशा नहीं तो दुनिया क्या है ? भाँति-भाँति की चतुराइयाँ चमन को यहाँ गुलजार बना रही हैं। उन सब में निर्द्वन्द्व वह क्यों घूमता रहे ? कुछ क्यों न फाँसे ?कोई सदाचार या दुराचार, नीति अथवा अनीति, स्वार्थ अथवा परोपकार, दृश्य अथवा वस्तु ? सब है और सब चल रहा है। किधर चल रहा है ? महाशून्य की ओर। अन्त में तो सब को मरना है। बस हो गया तय कि मरना है ! अब उस मौत में कोई क्या देखे ? उसके पार क्यों देखे ? अन्त के अन्तर में या उसके पार कुछ दीख तो सकता नहीं, इससे उधर आँख देना ही भारी मूर्खता है। बस यह तय करके नाचते गाते हुए वर्तमान के क्षणों पर तिरता-सा हुआ वह रहता था।

पर इलाहाबाद से आया कि कुछ दिनों में उसे प्रतीत होने लगा कि उसे शराब की ज़रूरत है। अन्दर कुछ फूटना चाहता है, जिसे डुबाना चाहि। ग़म नहीं था जिसे ग़लत करता है। पर तो भी कुछ था, जो अनिच्छित होकर भी भीतर से एकदम शून्य नहीं हो पाता था, अब तक वह अपनेपन को अपने पास न रखता था। पर अब ज़रूरत हुई कि वह अपनेपन को भुलाये। यानी वह अनिष्ट वस्तु उसमें हो चली थी जिसका नाम है 'अपनापन' और जो अभिशाप है। उसी का दूसरा नाम है 'आत्मालोचन।'

इससे बड़ी वेदना क्या है कि आदमी को आत्मा मिले ? माता शिशु को जन्म देती है, तो यह स्वयं उसका पुनर्जन्म होता है। व्यक्ति को अपनी आत्मा मिलती है, तो भी पुनर्जन्म बिना नहीं। जन्म के लिये

मरना पड़ता है। वह कुछ ऐसा ही वागीश के साथ हो रहा था। वह मर रहा था। वह अपने भीतर किसी का जन्म नहीं चाहता था। पर उसके बावजूद एक बीज उसमें गर्भस्थ हो पड़ा था, इसलिए अपने बावजूद उसे मरना पड़ रहा था।

किन्तु स्वेच्छापूर्वक मरने की कला किस को आती है ? इससे जिस वस्तु को उसके नूतन जन्म को सम्भव करने के लिए उसमें से मर मिटना चाहिए. वागीश उससे चिपटा रहना चाहता था। परिणाम था एक घोर मानसिक द्वन्द्व। लिखना भाड़ में चला गया, शोहरत का ख़्याल और लौकिक कर्त्तव्यों की चिन्ता चूल्हे में पड़ गई। बस, शराब की मात्रा उसकी बढ़ती जाने लगी।

इन ढंगों से हाल बिगड़ता ही गया। पैसे की कमी हुई। पर कमी में रहने की उसकी आदत नहीं थी न उसमें बेईमानी का बीज था। परिणाम यह हुआ कि जिस किसी से वह उधार ले लेने लगा। लिया उधार लौटाने की उसे याद ही नहीं रहती थी। ऐसे लगभग एक साल हो गया।

इस बीच 'छाया' के मैनेजर के नम्रतापूर्ण कई पत्र आये। पत्र पाकर वह हँस देता था, धीमे-धीमे पत्रों में विनय की जगह तकाजा आने लगा। तब भी उसने जवाब नहीं दिया। तकाजे में एक बार कुछ अविश्वास की गन्ध उसे मिली। उसने मैनेजर को लिखा कि चालीस रुपये क्या कभी तमाशे पर आपने खर्च नहीं किए हैं ? समझिए यह चालीस रुपये भी तमाशे में गये। और तमाशे को तमाशे की तरह आप देखें तो जितना बुरा हो, उतना ही बढ़िया कहा जा सकता है। अब कहानी मुझ से न माँगें, न रुपये। रुपये डूब गये और कहानी वाला भी डूब गया।

ख़त लिखकर वागीश ने सोचा होगा कि छुट्टी हुई। पर मैनेजर की सज्जनता समाप्त होने वाली न थी। पत्र आया कि आपकी कहानी से पत्र की शोभा और प्रतिष्ठा बढ़ती है। रुपये की कोई बात नहीं। बीस रुपये और भेजे जाते हैं। कहानी आप से मिले, इसकी हिन्दी-जगत् को प्रतीक्षा

है। पत्र पढ़ कर बागीश ने तभी फाड़ फेंका और मनीआर्डर लाने वाले डाकिये को धमका कर घर से बाहर निकाल दिया।

ऐसे कुछ दिन और बीते। बागीश राह पर न आया। उसे भयंकर युद्ध करना पड़ रहा था। शराब की मात्रा काफी बढ़ गई थी। और अब सस्ते किस्म की शराब मिल पाती थी। इस बीच उसने गान्धी-दर्शन पर दो-एक निबन्ध लिखकर अखबारों में भेजे, जिनकी कर्मज्ञों में बहुत प्रशंसा हुई। उस पर और कइयों ने लेख लिखे। प्रशंसा के ऐसे सब लेखों को उसने टुकड़े-टुकड़े कर के बाहर फेंक दिया। वह अब शराब से जब खाली होता, कमरे में गाँधी जी की तस्वीर लगातार उसकी तरफ देखता रहता। कभी देखते-देखते रोने लगता। फिर उसके बाद बोतल खोल कर पीने लगता।

ऐसी हालत में 'छाया' का पत्र आया कि अब बहुत हुआ, कहानी दीजिये या रुपये लौटाइए। कहानी के नाम पर वह जलभुन गया। कलेजे में आग लग रही हो, पर उसकी कहानी भी हो सकती है। शहर में आग लगती है और अखबारों के रिपोर्टरों को कहानी बनती है। अखबारी रिपोर्टरों का कहानी देने का काम आग में जलने वालों के जलने के काम से ज्यादा कीमती हो, यह सच हो सकता है, पर जो जल रहा है, वही उस जलने के सौन्दर्य का बखान कैसे करे? ज्वालामुखी अपनी तस्वीर को देख कर क्या कहेगा? उस तस्वीर का यही भाग्य है कि वह ड्राइंग-रूम का सौंदर्य बढ़ावे। नहीं तो कहीं अपनी ही असलियत के पास पहुँचने की वह तस्वीर हिम्मत करेगी तो पास तक पहुँच नहीं पायगी कि बीच ही में फुक जायगी।

इसलिए 'छाया' की माँग पर वह दाँत किसकिसा कर रह गया। ऐसा गुस्सा आया कि वह अपने को ही न काट ले। सोचा कि लिख दे कि चालीस रुपये के बगैर किसी को जान निकल रही हो तो तार देना, तब रुपये फौरन यहाँ से आयँगे, पर उसने यह नहीं लिखा। क्योंकि उसको एकदम निश्चय हो गया कि चालीस रुपये के बिना या उसके एवज

के बिना सचमुच मैनेजर की जान ही निकल रही है। वह चाहता था कि वह जान जरूर बचे, क्योंकि वह जान पैसे की उम्मीद में अटकी है। इसलिए वह आँखें फाड़-फाड़ कर सिर के ऊपर लगी गाँधी की तस्वीर और उसके पार छत में देखता था कि कहाँ से चालीस रुपये निकल आवें। वह जल्दी से जल्दी उतने रुपये 'छाया' को भेज देना चाहता था। क्योंकि प्राण-रक्षा का सवाल था। पर ऐसी हालत और चालीस रुपये........!!

'हराम का नहीं' काम का खाना चाहिए।'—मैं किस काम का खा रहा हूं? किस काम का खाता रहा हूं? क्या लेखकी काम है? शोहरत काम है?........ असल में वह जहाँ था उस जमीन पर डगमगा चला था। पैर लड़खड़ा गये थे, पर वह सँभल कर फिर-फिर वहीं खड़ा होना चाहता था। लेकिन जमीन नीचे से बराबर खिसक रही थी। इससे उसके ऊपर मजबूती से पैर बाँध कर खड़ा होना सम्भव ही न था। उसको तो गिरना ही होगा। पर गिर कर टिकना कहाँ होगा—यह वह नहीं जानता था। उसे मालूम हुआ कि गाँधी एक आदमी है जो उस असली जमीन पर खड़ा है। पर मेरे पैर तो उस जमीन को छू भी नहीं पाते हैं। कहाँ मैं खड़ा होऊँ? इस तरह अपनी जमीन से उखड़ कर वह जैसे अतल पाताल में गिरता जा रहा था।....हराम, काम! काम, हराम!! वह हरामी है, हरामी है!!!

तब उसे वह स्त्री याद आती थी, जिसको हराम का नहीं, काम का खाने की सीख उसने दी थी। उसने जी-तोड़ कर काम किया था, फिर भी वागीश ने उसे हराम का नहीं, काम का खाने की शिक्षा दी थी। कहा था—'आवारा न रहना, काम करना।'

पर वागीश खुद क्या कर रहा था? उसने क्या आवारापन को ही एक कला का रूप नहीं दे लिया था? क्या उसने अपनी ओर से छल भी उसमें और नहीं जोड़ दिया था? इस तरह उसकी शोहरत और उसका बड़प्पन क्या सब एक बहुत बड़ा माया-जाल ही नहीं था? अगर उस औरत का हाथ फैला कर भीख माँगना झूठ था, तो क्या उसका यह किताबें

गली करके पेट भरने और शिक्षा देने का दंभ भरने का धन्दा क्या झूठा हीं था ?

पर इस शंका के अतल में उसे तल न मिल रहा था ? इस से ऊपर ाँधी की तस्वीर को देख कर रोता था और फिर रह कर बोतल सँभाल ेता था ।

कुछ दिन और बीते कि 'छाया' का नोटिस आया कि चालीस रुपये ात रोज़ के अन्दर भेजो; नहीं तो मामला वकील के सुपुर्द किया जा हा है । पढ़कर वागीश ने चैन की साँस ली । वह खुश हुआ कि केसी के मरने की बात अब नहीं है, अदालत उसको जिला देगी । इसीलिए नोटिस पाकर वह इस बारे में बेफ़िक्र हो गया । अब दया का प्रश्न न था । जिसको अदालत का बल प्राप्त है, उसको दया देना उसका अपमान करना है । और वागीश कितना ही गिर जाय, इतना अधम न हो सकता था कि दयनीय पर दया न करे अथवा सम्माननीय का अपमान करे ।

६

पर हाय ! वागीश को दण्ड पाने का सन्तोष न मिला । वह चाहता था कि उसकी खूब फ़ज़ीहत हो । उसने जो लेखकी और प्रसिद्धि का महाझूठ अपने चारों ओर रचा था, वह झूठ टूट कर धूल में मिल जाय । उसकी इज़्ज़त चिथड़े-चिथड़े होकर कीचड़ में सन जाय । वह जेल पाये और सख्त से सख्त अपमान पाये । उसे लौकिक कर्त्तव्य सब मिथ्या और अपने को दण्डित करने का ही एक परम कर्त्तव्य सत्य दिखलाई देता था । इस समय उस की हालत थी कि अगर सौ रुपये ज़बर्दस्ती कोई उसके हाथ में दे जाता तो वह सौ के सौ किसी राह चलते अंधे को दे देता । पर 'छाया' को पाई न भेज कर उस ओर से वह बेइज़्ज़ती हो चाहता था, उससे सस्ती कुछ वस्तु पाकर किसी तरह भी छूट रहना नहीं चाहता था, दुनिया जब तक उसे पामर न देख ले और पामर न जान ले, तब तक मानो उसे सन्तोष न होगा । क्योंकि अभिमान का नाश करने

वाला इससे कम दण्ड के योग्य नहीं है। वागीश, तू लेखक, ज्ञानी, नीति सिखाने वाला! अरे दम्भी! अब तू इसी अधमाधम नरक में पड़!

इस तरह की उसकी भावनाएँ थीं, और वह गान्धी की तरफ देख कर रोता और शराब पीकर हँसता था।

पर उसका चाहा कुछ न हुआ। क्योंकि एक दिन वह इलाहाबाद वाली स्त्री आई और उसने चालीस रुपये वागीश को लौटा दिये। वागीश ने उस पर डाटा, डपटा, गालियाँ दीं, नोटों को फाड़ देने की धमकी दी। पर औरत सब पी गई, और न वहाँ से टली न रुपये वापिस लिये।

वागीश ने कहा—'तुम अंधी तो नहीं हो? मैंने कब तुम्हें रुपये दिये? कैसे रुपये? वह कोई और होगा। देखती नहीं हो, वह कैसी जगह है? इसलिए मुझे होश रहते तुम यहाँ से चली जाओ।' पर स्त्री ने कुछ नहीं सुना और रुपये डाल कर उस कमरे की यहाँ-वहाँ बिखरी चीज़-वस्तु सँभालने में लग गई।

वागीश से यह नहीं हुआ कि लातें मार कर उस स्त्री को वहाँ से निकाल दें, अगर्चे वह चाहता वही था।

७

वह स्त्री कमरे को ज़रा सँभाल कर थोड़ी देर में चली गई, लेकिन अगले दिन फिर आई, उससे अगले दिन फिर—उससे-उससे अगले दिन फिर।

खुद उस स्त्री के मुँह से वागीश को मालूम हुआ कि वह व्यभिचारिणी थी। वागीश की सहानुभूति में उसने जाने क्या देख लिया था। उसकी काम की मुस्तैदी सिर्फ वागीश का मन हरने के लिए थी। उस पर उन्नीस रुपये कर्ज़ होने की कहानी गढ़न्त थी। वह वागीश को रिझा कर उससे कुछ ठगना चाहती थी। वह बाज़ार में बैठ चुकी है, जेल काट चुकी है। इसी तरह और भी उसने अपने पाप की कहानियाँ सुनाईं।

लेकिन उस दिन इलाहाबाद से वागीश के जाने के दिन से उसने मेहनत से काम किया है। वह सच कहती है कि उसने हराम का नहीं

खाया, काम का खाया है। और उसी में से चालीस रुपये बचाये हैं। उस स्त्री ने माथा धरती पर टेक कर कहा कि ये रुपये अब वह वापिस नहीं लेगी।

इस तरह तीन रोज़ वागीश के पागलपन, उसकी झिड़की और बद-हवासी के बावजूद स्त्री अपनी पूरी पाप-कहानी सुना गई। तब चौथे रोज़ वागीश ने कहा—'सुनो, यह गिलास बोतल मोरी में पटक आओ। और मनीआर्डर लिखता हूं, डाकखाने में दे आना ऊपर से जो पैसे लगें, लगा देना और दो दिन यहाँ मत आना। क्योंकि पूरे दो दिन मैं सोऊँगा।'

'उसके बाद....'—वह कहना चाहता था, पर कह नहीं सका—'मैं भी हराम का नहीं, काम का खाऊँगा।'

चालीस रुपये आये और गये। फिर आये और फिर गये। वह कैसे, इसका वृत्तान्त यहाँ समाप्त होता है।

———

: १६ :

किसका रुपया

रमेश, अनमना, बढ़ता चला आया था, सो अनमना बढ़ता चला गया। उद्देश्य उसमें खो गया था। गिनती की भाँति पड़ते हुए उसके क़दम ही थे जो उसे लिये जा रहे थे। स्कूल में मास्टर ने उसे मारा था। क़सूर, कि आज पाँच में दो सवाल उसके ग़लत निकले। क्लास का वह अव्वल लड़का है। हिसाब में होशियार है। मास्टर सब लड़कों को दिखा कर उसकी तारीफ करते हैं। आज उसी के दो सवाल ग़लत आये, तो मास्टर को गुस्सा आ गया। गुस्सा न आता, अगर और लड़कों में किसी के भी सब सवाल सही न आते। मास्टर रमेश को बहुत चाहते थे। पर जब उसी रमेश के दो सवाल ग़लत और दूसरे एक लड़के के पाँचों सवाल सही आये तो मास्टर को बड़ी झुँझलाहट हुई।

तिस पर एक शरारती लड़के ने कहा,—"मास्टर जी, तीन तो मेरे भी सही हैं। और आप रमेश को होशियार बताते हैं!"

मास्टर ने कोई जवाब नहीं दिया। गम्भीरता से कहा—"रमेश, यहाँ आओ।"

रमेश डरता-डरता पास आया।

"हाथ फैलाओ।"

रमेश ने हाथ फैलाये। मास्टर ने हाथ के फुटे को कसकर दो-तीन बार उसकी हथेली पर मारा और कहा, "जाओ, उस कोने में मुर्गा बनकर खड़े हो जाओ।"

रमेश क्लास का मानीटर था। मास्टर ने कहा—"सुना नहीं ? जाओ, मुर्गा बनो।"

रमेश चल कर अपनी जगह आया और बस्ता खोल कर बैठ गया।

मास्टर ने यह देखा तो गरज कर कहा—"रमेश ! सुना नहीं हमने क्या कहा ? जाकर मुर्गा बनो।"

जवाब में रमेश गुम-सुम बैठा रहा।

मास्टर तब अपनी जगह से उठ कर आये और कान पकड़ कर रमेश को खड़ा करते-करते दो-तीन चपत कनपटी पर रख दिये, फिर धकियाते हुए कहा—"निकल जाओ मेरे क्लास से।"

रमेश क्लास से निकलकर चला। घर पर आया तो माँ ने पूछा,—"क्या है ?"

रमेश चुप।

"क्या है ? ले, ये सन्तरे लुकाट तेरे लिये रखे हैं।"

रमेश गुम-सुम बैठ रहा और कुछ नहीं छुआ।

माँ ने हँसकर कहा,—"आज के पैसे का ऐसा क्या खाया था जो भूख नहीं लगी ? और हाँ, क्या आज स्कूल इतनी जल्दी हो गया ?"

जवाब में रमेश ने सवेरे मिला पैसा अपनी जेब से निकाला और तख़्त पर रख दिया, बोला-चाला नहीं।

माँ ने पूछा—"क्यों रे, क्या हुआ है जो ऐसा हो रहा है ?"

रमेश नहीं बोला और बीच बात उठकर दूसरे कमरे में खाट पर पैर लटका कर अँगुली के नहों को मुँह से कुतरता हुआ बैठा रह गया।

माँ फल की तश्तरी लेकर आई। कहा—"बात क्या है ? मास्टर ने मारा है ?"

प्यार से रखे माँ के हाथों को रमेश ने अपने कंधे पर से अलग झटक दिया और जाने क्या बुदबुदाता रहा।

माँ ने चिरौरियाँ कीं, प्यार से पूछा, मुँह में छिला लुकाट ज़बरदस्ती दिया। पर रमेश किसी तरह नहीं माना। वह जाने ओठों ही ओठों में

क्या बुदबुदाता था त्योरियाँ उसकी चढ़ी हुई थीं और कुछ साफ न बोलता था । होते-होते माँ को भी गुस्सा आगया । उसने भी दोनों तरफ चपत रख दिये, और कहा—"बदशऊर से कितना कह रही हूँ, लेकिन जो कुछ बोले भी । हर वक्त झिकाने के सिवाय कुछ काम ही नहीं, हाँ तो । बोलना नहीं है तो इस घर में क्यों आया था ? न आके मरे सामने, न कलेश मचे ।"

रमेश इस पर टुक देर तो वहीं गुमसुम बैठा रहा । फिर खाट से मुँह उठा कर घर से बाहर होने चला ।

माँ ने कहा—"कहाँ जाता है ? चल इधर ।"

पर रमेश चल कर इधर नहीं आया, आगे ही बढ़ता गया । इस पर ज़रा देर तो माँ अनिश्चित मान में रहीं, फिर झपटी आयीं और सीढ़ी उतर दरवाजे से बाहर झांकीं, तो गली की मोड़ तक रमेश कहीं दिखायी नहीं दिया । माँ इस पर झीकती बड़-बड़ाती भीतर गयीं और सोचने लगीं कि 'यह उन्हीं के काम हैं कि ज़रा से लड़के को इतना सिर चढ़ा दिया है । तारीफ कर करके आज यह हाल कर दिया है । माँ को तो कुछ समझता ही नहीं । मेरा क्या, ऐसे ही बिगड़ कर आगे कुल को दाग़ लगायगा तो मैं क्या जानूं । अभी हाथ में नहीं रखा तो लड़का फिर क्या बस में आने वाला है ? उचक्का बनेगा, उचक्का, और नहीं तो ।'

उधर रमेश बढ़ा चला जा रहा था । चलने में उसके दिशा न थी न कदमों में अगला-पिछला था । चलते-चलते वह घासके मैदान में आ गया और वहाँ एक जगह बैठ गया । धूप में इतनी तेज़ी न थी । धीरे धीरे वह ढलती जा रही थी । दूर तक कटी दूब का गलीचा बिछा था । पार पेड़ों से घिरी सड़क बल खाती जा रही थी । एकाध छुटी गाय घास चर रही थीं । ऊपर आसमान के शून्य विस्तार में इक्की-दुक्की चील उड़ती दीखती थी । बैठे-बैठे उसे आधा, एक, दो घंटे हो गये । इस बीच वह कुछ ख़ास नहीं सोच सका था । जहाँ था वहीं रहा था । उसके मन में न मास्टर था, न माँ थी । मन में उसके कुछ नहीं था । बस एक अजीब

बेगानगी थी कि वह अकेला है अकेला। सब है, पर कुछ नहीं है। बैठे-बैठे गुस्सा और क्षोभ उसका सब धुल गया था। उसमें अभियोग नहीं था, न शिकायत थी। बस एक रीतापन था कि जैसे कहीं कुछ भी न हो।

देखा कि एक पिल्ला जाने कहाँ से बिछुड़ कर उसके आस पास कुछ ढूँढ़ रहा है। वह कूँ-कूँ कर रहा है। कभी रुक कर कुछ सोचता है, और तभी भाग छूटता है। रमेश की तबियत हुई कि वह उसके साथ खेले। जब तक पास रहा, वह पिल्ले की तरफ देखता रहा। उसकी अठखेलियाँ उसे प्यारी लग रही थीं। पर जाने वह पिल्ला उससे कितनी दूर था—इतनी दूर कि मानों उसके और इसके बीच समुन्दर फैला हो। वह खुद इस पार हो, और पिल्ला दूसरी पार, और वह उसके खेल में भाग न बँटा सकता हो। पिल्ला खेल के लिए हो और वह—बस देखने के लिए।

धीरे-धीरे वह पिल्ला कूँ कूँ करता पास आगया। बिल्कुल पास आगया। रमेश मुग्ध बना उसे देखता रहा। पर मुँह से आवाज देकर या हाथ फैलाकर उसे बुला न सका। पिल्ला पास से और पास आता हुआ उसे बड़ा प्यारा लगता था। और वह क्यों एकदम आकर रमेश की देह से सट नहीं जाता। रमेश एकदम निष्क्रिय और निर्विरोध पड़ा था। वह खुश होता कि पिल्ला उसकी छाती पर चढ़कर उसके एकाकीपन को भंग कर डालता। वह चाहता था कि कोई उसे अपने से छुड़ा दे। अपने में होकर वह एकदम अवसन्न और निरर्थक बन रहा था, जैसे वह है ही नहीं। पर पिल्ले ने पास आकर रमेश के मुँह के पास सूँघा, कमीज के छोर को सूँघा, फैले हुए पैरों की अँगुलियों के पास नाक लाकर उसे सूँघा, और फिर लौट कर चल दिया।

रमेश उत्सुक था। वह बाट में था कि यह पिल्ला जरूर उससे उलझेगा। पर इतने पास आकर जब वह लौट चला तो रमेश ने एक भारी सांस छोड़ी। मानों उसके मन में हुआ कि ठीक है, यह भी मुझे नहीं चाहता। कोई उसे नहीं चाहता।

इसी तरह काफी देर वह बैठा रहा। अब साँझ हो चलेगी। दूर पास पगडंडी पर घास में लोग आ-जा रहे हैं। दिन का काम शाम के आराम के किनारे लग रहा है। पेड़ चुप हैं। सड़क पर मोटरें इधर से उधर भागती निकल जाती हैं। होते होते सहसा वह उठा। उसके मन में कुछ न रह गया था। न इच्छा, न अनिच्छा, न क्रोध, न खुशी। बस एक अलक्ष्य के सहारे वह अपने घर की ओर चल दिया।

चलते-चलते, अरे, यह क्या? वह दो डग लौटा, झुक कर देखा। सचमुच रुपया ही था। उसने उसे दबाया। इधर-उधर से देखा। एक-दम रुपया ही था। उसे बड़ी खुशी हुई। लेकिन फिर सहसा अपनी खुशी को मानो ग़लत जान कर वह गम्भीर होगया। रुपया जेब में रख लिया और धीर गम्भीर बनकर आगे चलने लगा। पर पैसे की क़ीमत का उसे पता था। एक पैसे में मिठाई की आठ गोलियाँ आती हैं। एक रुपये में चौंसठ पैसे होते हैं। चौंसठ में से हर एक पैसे की आठ-आठ गोलियाँ और पेंसिल लाल-नीली और पेंसिल बनाने का चाकू और रबर, फुटा और परकार और मिठाई और खिलौने, हाँ, और नई स्लेट और चाक—चाक की लम्बी-लम्बी बत्तियाँ और काँच की रंग-बिरंगी गोलियाँ और लट्टू और पतंग और गेंद और सीटी····इस तरह बहुत-सी चीजों की तस्वीरें उसके मन में एक-एक कर आने लगीं। वे बड़ी जल्दी-जल्दी आ रही और गुज़र रही थीं। उसके मन की आँखों के आगे से जैसे एक जुलूस ही निकलता जा रहा था। उसको देखकर मन में उछाह आता था। पर अब भी वह ऊपर से गम्भीर और आहिस्ते-आहिस्ते चला जा रहा था।

धीमे-धीमे कदमों में तेजी आ गई। मानो अब उनमें लक्ष्य है। पर उसे नहीं, वह पैरों को चला रहा है। चेहरे पर भी अभाव अब नहीं रह गया है। अपनी कल्पनाओं से अब उसे विरोध नहीं है, वह उनका हम-जोली है। उनके रंग में हमरङ्ग है। जुलूस उसी का है और उसमें चलने वाली रंग बिरंगी चीजें उसकी ताबेदार हैं। उसने जेब से रुपया निकाला और देखा, फिर रखा, फिर निकाला, और फिर देखा। वह जल्दी घर

पहुँचना चाहता था। वह माँ को कहेगा—नहीं, नहीं कहेगा। रुपये को जेब में रख लेगा और कुछ नहीं कहेगा, पर नहीं मिठाई मां को भी दूंगा। सब को दूंगा। सब को, सब को मिठाई दूंगा।

इस तरह चलते-चलते रमेश अपने घर के दरवाज़े पर पहुंचा कि वहीं से उत्साह में चिल्लाया—"अम्माँ! अम्माँ!"

उसकी अम्माँ की कुछ न पूछिए। रमेश के चले जाने पर कुछ देर तो वह रूठी रहीं। फिर यहाँ-वहाँ डोल कर उसकी खोज करने लगीं। पर रमेश यहाँ न मिला, न वहाँ। कायस्थों के घर की शांति से पूछा तो उसे पता नहीं। और अग्रवालों के यहां के प्रकाश से पूछा तो उसे ख़बर नहीं। वह सारा मुहल्ला छान आयीं, पर रमेश कहीं न मिला। पहिले तो इस पर उन्हें बड़ा गुस्सा आया। फिर दुश्चिन्ताएं घेरने लगीं। आख़िर हार-हूर कर घर में अपने काम से लगीं और दफ्तर गये रमेश के बाप को कोस-कोस कर मन भरने लगीं। उन्होंने ही तो ऐसा बिगाड़ कर रख दिया है। अपनी ही चलाता है, और ज़रा कुछ कह दो तो मिज़ाज़ का ठिकाना नहीं। जाने कहाँ जाकर मर गया है कम्बख़्त। भला कुछ ठीक है। मोटर है, साइकिल है, मुसलमान हैं, ईसाई हैं। फिर ये मुड़कटे डंडे वाले कंजरे घूमते फिरते हैं। कहते हैं बच्चों को झोली में डाल कर ले जाते हैं। कहाँ जाकर नस गया, मर मिटा! मेरी आफ़त है। बस सब काम में मैं ही। भगवान् मुझे उठा क्यों नहीं लेता........

दरवाज़े से रमेश की आवाज़ सुनते ही उनका दिल उछल पड़ा। सोचा कि आने दो, उसकी हड्डियाँ तोड़ कर रख दूंगी। दुष्ट ने मुझे कैसा सताया है। पर इस ख्याल के बावजूद उनकी आँखों में पानी उतर आने को हो गया। और भीतर से उमग कर बालक के लिए बड़ा प्यार आने लगा।

रमेश ने कहा—"अम्माँ, अम्माँ! सुन—अच्छा मैं नहीं बताता।"

अम्माँ ने अपने विरुद्ध होकर डाट कर कहा—"कहाँ गया था रे तू? यहाँ मैं हैरान हो गयी हूं। अब आया तू!"

रमेश ने वह कुछ नहीं सुना। बोला—"अम्माँ सच कहता हूं। दिखाऊं तुम्हें ?"

अम्माँ ने कहा—"क्या दिखायगा ? ले, आ, भूखा है कुछ खा ले।" कह कर माँ ने रमेश के कंधे पर प्यार का हाथ रखा और रमेश छिटक कर दूर जा खड़ा हुआ। बोला—"पास से नहीं दूर से देखो। नहीं तो ले लोगी। ये देखो।"

"अरे रुपया ! कहाँ से लाया है ?"

"रास्ते में पड़ा था।"

"देखूं !"

रमेश ने पास आकर रुपया माँ के हाथ में दे दिया। माँ ने उसे अच्छी तरह परख कर देखा—एकदम खरा रुपया था।

रमेश ने कहा—"लाओ।"

माँ ने कहा—"तू क्या करेगा। ला, रख दूँ।"

"मेरा है।"

"हाँ, तेरा है। मैं कोई खा जाऊंगी ?"

माँ का ख्याल था कि रमेश रुपया बेकार डाल आयगा। रुपया पाने पर वह बेहद खुश थीं। इस रुपये में अपनी तरफ़ से कुछ और मिलाकर सोचती थीं कि रमेश के लिए कोई बढ़िया इनाम की चीज़ मंगा दूंगी। ऐसे उसके हाथ से रुपया नाहक बरबाद जायगा। पर रमेश के मन में से अभी वह जुलूस मिटा नहीं था। सोचता था कि मैं यह लाऊंगा, वह लाऊंगा। और मिठाई लाकर सबको खिलाऊँगा। पर यह क्या कि उस की माँ अन्याय से रुपया ही छीन लेना चाहती हैं। उसको यह बहुत बेजा मालूम हुआ। उसने कहा—"रुपया मेरा है। मुझे मिला है।"

माँ ने कहा—"बड़ा मिला है तुझको ! कमाये तब मेरा तेरा करना। चुप रह।"

रमेश का अन्तःकरण यह अन्याय स्वीकार नहीं कर सका। उसने कहा—"रुपया तुम नहीं दोगी ?"

माँ ने कहा—"नहीं दूंगी।"

रमेश ने फिर कहा—"नहीं दोगी ?"

माँ ने कहा—"बड़ा आया लेने वाला ! चुप रह।"

नतीजा यह कि रमेश ने हाथ पकड़ के रुपया लेने की कोशिश की। माँ ने हँस कर मुट्ठी कस ली। कहा—"अलग बैठ।"

पर रमेश अलग न बैठकर मुट्ठी पर जूझता रहा। माँ पहले तो रही टालती फिर बालक की बदशऊरी पर उन्हें गुस्सा आने लगा। और जब ज़ोर लगाते-लगाते अचानक रमेश ने उनकी मुट्ठी पर दाँत से काट खाया तो माँ ने एकाएक ऐसे ज़ोर से कनपटी पर चपत दी कि बालक सिटपिटा गया। हाथ उससे छूट गया और चणिक सहमा हुआ वह माँ की ओर देखता रह गया, मानो पूछता हो कि क्या यह सच है ? जवाब में उसने माँ की आँखों में चिनगारी देखी। माँ के मन में था कि यह लड़का है कि राचस ? बदमाश काटता है।

माँ की तरफ़ निमिष भर इस तरह देखकर वह अपनी कनपटी को मलता हुआ गुम-सुम वहाँ से अलग चल दिया, रोया नहीं। कुछ दूर चलने पर माँ ने रुपया उसकी तरफ़ फेंक दिया।

रमेश ने उस तरफ़ देखा भी नहीं और चलता चला गया।

रमेश के पिता साढ़े पाँच बजे दफ़्तर का काम निबटा घर लौटे। साइकल आज नहीं थी, इससे सड़क छोड़ कर घास के मैदान में रास्ता काट कर चले। रास्ते में क्या देखते हैं कि एक दस-ग्यारह बरस की लड़की, भयभीत, इधर-उधर रास्ते पर आँख डालती हुई चली आ रही है। सलवार पहिने है और कमीज़, और ऊपर सर से होती हुई एक ओढ़नी पड़ी है। लड़की मुसलमान है और उसके एक हाथ में छोटी-सी पोटली है। पैर जल्दी-जल्दी रख रही है और इधर-उधर चारों तरफ निगाह फेंकती हुई बढ़ रही है। चेहरे पर हवाइयाँ हैं और आंख में आँसू आ रहे हैं। साँस भरी-सी लेती है और कुछ मुँह में बुदबुदाती है। रमेश के बाबू जी ने पूछा—"क्या है बेटी ?"

लड़की पहले तो सहमी-सी देखती रही। फिर रोने लगी। "हाय रे मैं क्या करूँ? अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी। अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी। हाय रे; मैं क्या करूँ?"

बाबू जी ने पूछा—"बात क्या है, बेटी?"

लड़की बोली—"एक रुपया और एक इकन्नी थी। कहीं रास्ते में गिर गयी!"

"कहाँ गिर गयी? और कब?"

लड़की ने कहा—"मैं जा रही थी। यहीं कहीं गिर गयी। घर के पास पहुँच कर देखा कि गिर गयी है। यह अभी हाल ही जा रही थी। अजी, अभी हाल। बहुत देर नहीं हुई। हाय रे अब मैं क्या करूँ? अम्माँ मुझे मारेंगी। अम्माँ मुझे मारेंगी।"

लड़की डर के मारे बदहवास थी। सत्रह आने की कीमत इस लड़की या उसकी माँ के लिए ज़रूर सत्रह आने से कहीं ज़्यादा थी। क्योंकि लड़की ग़रीब घर की मालूम होती थी। बाबू जी ने पूछा—रुपया कहाँ गिरा, बेटी?"

लड़की ने यहाँ-वहाँ और सभी जगह बताया कि गिरा हो सकता है। तब बाबूजी ने कहा कि अब तो रुपया क्या मिलेगा और लड़की को दिलासा देना चाहा। पर लड़की का डर थमता न था। "हाय रे, अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी। हाय री दैया, मैं क्या करूँ। अम्माँ बहुत मारेंगी।"

करुणा के वश रमेश के बाबू जी उस रास्ते पर पीछे की ओर, और सामने की ओर, काफी दूर-दूर तक उस लड़की के साथ घूमे। पर रुपया नहीं दीखा, और इकन्नी भी नहीं दीखी। ऊपर से रोशनी भी कम हो चली थी। बाबू को बड़ी दया आ रही था। लड़की के मन में हौल भरा था। "हाय रे, अम्माँ क्या कहेंगी? अम्माँ मुझे बहुत मारेंगी।"

मालूम होता था कि लड़की को माँ का डर तो है ही, उसके नीचे यह भी विश्वास है कि रुपया खोना सच ही इतना बड़ा कसूर है कि उस पर लड़की को मार मिलनी चाहिये। इसी से यह डर ऊपर का नहीं था,

बल्कि उसके भीतर तक भरा हुआ था। वह फटी आँखों से इधर-उधर देखती थी और कहीं कुछ सफ़ेद मिलता तो लपक कर उसी तरफ़ झुकती थी। पर हाथ में कभी चीनी का टुकड़ा आ रहता, तो कभी कोई सूखा पत्ता या कभी सिर्फ़ चमकदार पथरी।

रमेश के बाबू जी ने काफी समय लगा कर उसे सहायता दी। आख़िर रुपये और इकन्नी में से कुछ नहीं मिला तो यह कहते हुए वह बिदा लेने लगे कि, "बेटा, अब अँधेरा हुआ, कल देखना। क़िस्मत हुई तो शायद मिल भी जाय।"

लड़की सुन कर इस आख़िरी हमदर्द को जाते हुए देख कर आँखें फाड़े खड़ी रह गयी।

बाबू बेचारे क्या करते? दिल को मज़बूत कर घर की तरफ़ मुँह उठाते हुए चलते चले गये। ख़्याल आया कि चलूँ लौट कर एक रुपया उसके हाथ में रख दूँ, और कहूँ—बेटी इकन्नी तो इसके पास पड़ी हुई मिली नहीं, यह अपना रुपया लो।" पर इस ख़्याल को बराबर ख़्याल में ही लिये और दोहराते हुए वह एक पर एक डग बढ़ाते घर की तरफ चलते चले गए।

घर पहुँचे। बाहर सड़क पर एक तरफ देखा कि बुद्ध भगवान् की तरह विरक्त रमेश बाबू बैठे हैं। पिता ने कहा—"अरे रमेश, क्यों क्या है यहाँ क्यों बैठा है?"

रमेश ने सुनकर मुद्रा और पारलौकिक करली और कोई जवाब नहीं दिया।

पिता ने हाथ के झोले को दिखाकर कहा—"अरे चल, देख तेरे लिये क्या लाया हूँ?"

रमेश ने न देखा, न सुना। कोई उससे मत बोलो। किसी का उससे कुछ मतलब नहीं। तुम सब जियो, वह अब मरेगा।

रमेश के पिता मुस्करा कर आगे बढ़ गये। सोच लिया कि इस घर में जो है, रमेश की माँ है।

अन्दर आकर देखा कि रमेश की माँ भी अनमनी हैं। बरामदे में पड़े हुए रुपये को उठाकर कमरे में घूमते हुए कहा—"क्यों, क्या बात है? आज तो चूल्हा भी ठंडा है।"

मालूम हुआ कि बात यह है कि रमेश की माँ को अभी अपने मैके पहुँचाना होगा। क्योंकि इस घरमें जब उसे कुछ चीज़ ही नहीं समझा जाता है तो उसके रहने और सब का जी जलाने से क्या फायदा है! तुम मर्द होकर समझते हो कि दफ्तर के सिवा तुम्हें दूसरा काम ही नहीं है। और इधर यहाँ तुम्हारा लाड़ला जो बिगड़ रहा है, उसकी ख़बर नहीं लेते। सिर तो मेरे सब बीतती है। नहीं-नहीं मुझे कल की गाड़ी से बाप के घर भेज दो। काँटा कटेगा और तुम सब खुश होगे। इत्यादि।

रमेश के पिता ने कहा कि वह तो खैर देखा जायगा। पर यह रुपया कैसा बाहर पड़ा था, लो।

मालूम हुआ कि रमेश की माँ को उस रुपये में कोई आग नहीं देनी है, फेंक दो उसे भाड़ में।

अब तो रमेश के पिता का माथा ठनका। पर उन्होंने धीरज से काम लिया। रमेश की माँ को मनाया, उठाया। इस आश्वासन पर वह मन गई और उठ गईं कि रमेश को सुधारना होगा। पर सब के बाद रुपये का हाल मालूम किया तो रमेश के पिता सिर पकड़ कर सुन्न रह गये। कुछ देर में सुध हुई तो तेज चाल से उस घास के मैदान में पहुँचे कि ओ परमात्मा वह लड़की मिल जाय। पर वहाँ कहीं लड़की न थी। वह कहते हुए डोलते फिरे कि बीबी, यह रहा तुम्हारा रुपया! पर लड़की वहाँ कहाँ थी कि सुने। रुपया हाथ में लिये हसरत से वह सोचते रह गये कि अब वह उन्हें और कहाँ मिलेगी?

———

: २० :

आत्मशिक्षण

महाशय रामरत्न को इधर रामचरण के समझने में कठिनाई हो रही है। वह पढ़ता है और अपने में रहता है। कुछ कहते हैं तो दो-एक बार तो सुनता ही नहीं। सुनता है तो जैसे चौंक पड़ता है। ऐसे समय, मानो विघ्न पड़ा हो इस भाव से वह झुंझला भी उठता है। लेकिन तभी झुंझलाने पर वह अपने से अप्रसन्न भी दीखता है और फिर बिन बात, बिन अवसर वह बेहद विनम्र हो जाता है।

यह तेरह वर्ष की अवस्था ही ऐसी है। तब कुछ बालक में उग रहा होता है। इससे न वह ठीक बालक होता है, न कुछ और। उसे प्यार नहीं कर सकते, न उससे परामर्श कर सकते हैं। तब वह किस क्षण बालक है और किस पल बुजुर्ग, यह नहीं जाना जा सकता। उसका आत्मसम्मान कब कहां रगड़ खा जायगा, कहना कठिन है। उससे कुछ डरकर चलना पड़ता है।

रामरत्न की बात तो भी दूसरी है। घर में अधिक काल उन्हें नहीं रहना होता। सवेरे नौ बजे दफ्तर की तैयारी होजाती है और सांझ अंधेरे वापस आते हैं। बाद खाने के समय के अलावा कोई घण्टाभर घर में रहने पाते होंगे। रात नींद की होती ही है। पर दिनमणि की परेशानी को न पूछो। वह रामचरण को लेकर हैरान है। अकेले में बैठकर सोचती है, दो जनियों से पूछकर वह विचारती है। पर ठीक कुछ समझ नहीं आता कि रामचरण से कैसे निबटे? जानती है कि लड़का यह सुशील है, खोटी

आदत कोई नहीं है। किताबें सदा अच्छी और धर्म की पढ़ता है। पर उसकी तबीयत की थाह जो नहीं मिलती। वह गुमसुम रहता है। चार दफे बात कहते हैं तब जाकर कहीं जवाब देता है। इस कारण आये दिन कलह बनी रहती है। इसमें दिनमणि को अपनी जुबान खराब करनी पड़ती है और रामचरण अटल रहता है, वह दस तरह झीकती है—फटकारती है। डपटती है और कहती है मैं क्या भौंकने के लिए हूं ? पर रामचरण को जो करना होता है करता है और नहीं करना होता वह नहीं करता। सारांश, दिनमणि कह-सुनकर अपने आप में ही फुंक रहती है।

दिनमणि ने अब अपने भीतर से सीख लेकर रामचरण से कहना-सुनना लगभग छोड़ दिया है। कुछ होता है तो पुत्र के पिता पर जा डालती है। सवेरे का स्कूल है और आठ बज गये हैं पर रामचरण अभी खाट पर पड़ा है। पड़ौस के सब बालक स्कूल गये, खुद घर की छोटी बिन्नी नाश्ता करके स्कूल जा चुकी है। आंगन में धूप चढ़ आई है, लेकिन रामचरण है कि खाट पर पड़ा है।

दिनमणि ने पति से कहा—"सुनते हो जी, लड़का सो रहा है और वक्त इतना होगया। उसे क्या स्कूल नहीं जाना है ? जगा क्यों नहीं देते ?"

रामरत्न अखबार पढ़ रहे थे, युद्ध में अनी का समय आया ही चाहता है, बोले— "क्या ! रामचरण !—तो ?"

"तो क्या," पत्नी कपार पर हाथ रखकर बोली, "सूरज सिर पर आजायगा, तब वह उठेगा ? एक तो कमजोर है और तुमने आंख फेर रखी है। कहती हूँ, स्कूल नहीं भेजोगे ? या ऐसे ही उसे नवाब बनाने का इरादा है ? तुमने ही उसे सिर पर चढ़ा रखा है।"

रामरत्न ने कहा—"क्या बात है—बात क्या है ?"

दिनमणि का भाग्य ही वाम है। वैसा पुत्र और ऐसा पति ! बोली—

"बात क्या है—तब से कह तो रही हूँ कि अपने लाड़ले को चल कर उठाओ। पता है, नौ बजेंगे !"

रामरत्न ने अन्दर जाकर जोर से कहा "रामचरण। उठोगे नहीं या तुम्हें पढ़ने का ख्याल नहीं है ?

करवट लेकर रामचरण ने पिता की ओर देखा।

उन आँखों में निर्दोष आलस्य था और आज्ञापालन की शीघ्रता नहीं थी। पिता ने कहा—"चलो, उठो। सुना नहीं।"

मालूम हुआ कि रामचरण ने सचमुच नहीं सुना है। वह झटपट उठ कर बैठ नहीं गया। पिता ने हाथ से पकड़ कर उसे खींचते हुए कहा—"चलो, उठते हो कि नहीं ? दिन चढ़ आया है और दुनिया स्कूल गई। नवाब साहब सोते पड़े हैं ?"

रामचरण पहले झटके में ही उठकर सीधा होगया। अब वह आंखें मल रहा था। पिता ने कहा—"चलो, जल्दी निबटो, और स्कूल जाओ। क्या तमाशा बना रक्खा है, अपने स्कूल का तुम्हें खयाल नहीं है ?"

रामचरण बिस्तर से उठकर चल दिया। दिनमणि उसी कमरे में एक ओर खड़ी यह देख रही थी। उसके जाने पर बोली—"मिजाज तो देखो इस शरीर के। इतना भौंकवाया तब कहीं जाकर उठा है। और अब भी देखो तो मुँह चढ़ा हुआ है।"

अखबार रामरत्न के हाथ में ही था, बोले—"उसके नाश्ते-वाश्ते को निकाल रखो कि जल्दी स्कूल चला जाय। देर न हो। बच्चा है, एक रोज आँख नहीं खुली तो क्या बात है ?"

दिनमणि इसका उपयुक्त उत्तर देने को ही थी कि रामरत्न चलकर अपनी बैठक में आगए और रूस-जर्मन मोर्चे का नया नक्शा अपने मन में बैठाने लगे। पर नक्शा ठीक तरह वहाँ जम नहीं सका क्योंकि जहां रोस्टोव चाहते हैं वहां रामचरण आ बैठता था। तब रामचरण पर उन्हें करुणा होने लगी। मानो वह अनाथ हो। माता है, पिता है पर जैसे उस बालक का फिर भी संगी कोई नहीं है। उन्हें अपने पर और अपनी

नौकरी पर क्षोभ होने लगा कि देखो वह लड़के के लिए कुछ भी समय नहीं दे पाते। घर में रहकर बालक पराया हुआ जा रहा है।

इसी समय सुनते क्या हैं कि अन्दर कुछ गड़बड़ मच उठी है। जाकर मालूम हुआ कि रामचरण (दिनमणि ने साहब बहादुर कहा था) नहाया नहीं है, न ठीक तरह मंजन किया है और मैं कहती हूं तो बदलकर नया निकर भी नहीं पहिनता है?

मैंने कहा—"निकर बदल न लो, रामचरण?"

उसने कहा—"देर हो जायगी।"

मैंने कहा—"आधी मिनट में क्या फर्क होता है, इतने के लिए माँ का कहना नहीं टाला करते भाई।"

रामचरण ने इस पर जाकर निकर बदल लिया और बस्ता लेकर चलने को तैयार हो गया।

स्कूल जाते समय रोज यह एक आना पैसा ले जाता है। देते समय पिता उससे तर्क करते हैं कि ऐसी-वैसी चीज बजार की लेकर नहीं खानी चाहिए, समझे? पर वह बात ऊपरी होती है और पिता अपना टैक्स देना नहीं भूलते। उसको जाते देख पिता ने कहा— "क्यों आज चार पैसे नहीं ले जाओगे?"

उसके आने पर कहा—"नाश्ता तो करते जाओ और पैसे भी लेजाना।"

उसने सुन लिया। उसका मुंह गिरा हुआ था और वह बोला नहीं।

रामरत्न ने सोचा कि स्कूल में शायद देर हो जाने का उसे डर है। थपकाते हुए वह उसे मेज पर ले गये और खुद मंगाकर नाश्ते की तश्तरी उसके सामने रख दी। कहा कि मैं हैडमास्टर को चिट्ठी लिख दूंगा, देर के लिए वह कुछ नहीं कहेंगे। अब तुम खाओ। तभी उन्होंने घड़ी देखी। साढ़े आठ हो गये थे और उन्हें सब नित्यकर्म शेष था।

"खाओ बेटा, खाओ।" कहते हुए वह वहाँ से चल दिये।

स्नान-समाप्त कर पाये थे कि बाहर से दिनमणि ने सुनकर कहा—

"देखो जी, तुम्हारे साहबजादे बिना खाये-पिये जा रहे हैं। फिर जो पीछे तुम मुझे कहो।"

रामरत्न शीघ्रता से केवल धोती पहने और अंगोछा कंधे पर रखकर बाहर आये, रामचरण से बोले—"नाश्ता करते जाते बेटे!"

रामचरण का मुंह सूखा था और गिरा हुआ था। उसने कुछ जवाब नहीं दिया।

"क्यों तबीयत तो खराब नहीं?"

रामचरण ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से पिता को देखा और अब भी कुछ बोला नहीं। पिता को ऐसा लगा कि उन आँखों में पानी तिर आना चाहता है। उन्हें कुछ समझ न आया। हठात्, बोले—"माँ से नाराज नहीं होना चाहिए। भई वह जो कहती है तुम्हारे भले के लिए ही कहती है। आओ चलो, कुछ नाश्ता कर लो।"

रामचरण फिर एक बार मूंगी आँखों से देखकर मुँह लटकाये वहीं का वहीं खड़ा रह गया।

पिता ने इसपर किंचित् पुत्र को उपदेश दिया और फिर भी उसे वहीं अचल देखकर किंचित् रोष में उसे छोड़कर चल दिये। वहीं से पुकारकर पत्नी से उन्होंने कहा—"नहीं खाता है तो जाने दो।" और रामचरण के प्रति कहते गये—"हमारे बक्स में पर्स होगा, उसमें से अपनी इकन्नी लेते जाना समझे? भूलना नहीं।"

रामरत्न संध्या बीते घर लौटे तो देखा कि रामचरण खाट पर लेटा हुआ है। और रोज अब तक वह खेल से मुश्किल से लौट पाता था। यह भी मालूम हुआ कि उसने खाना नहीं खाया है और उसकी माँ ने काफी उसे कहा-सुना है।

रामरत्न विचारशील हैं, पर उन्हें अति अच्छी नहीं लगती। सब सुनकर उन्होंने जोर से कहा—"रामचरण, क्या बात है जी?"

दफ्तर से वह इसी उधेड़-बुन में चले आ रहे थे। डर रहे थे कि घर में कहीं बात बढ़ी न हो। उनके मन में पुत्र के लिए करुणा का भाव

था। उन्हें अपना बचपन याद आता था कि किस तरह बचपन में उन्हें ही गलत समझा गया था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की इन्ट्रेन्स में पढ़ी 'होमकमिंग' कहानी का वह लड़का याद आता था जिसका नाम चाह कर भी वह स्मरण न कर पाते थे। उसकी बात सोचकर उनके रोंगटे खड़े होजाते थे। विचार करते थे कि लड़कों की अपनी स्वप्न की दुनिया अलग होती है। हम बड़ों का प्रवेश वहाँ निषिद्ध है। अपने सपनों पर चोट वह नहीं सह सकते। हम बड़ों को इसका खयाल रखना चाहिए।

लेकिन जब घर में पैर रखते ही दिनमणि ने रामचरण की उद्दण्डता और अपने धैर्य की बात सुनाई तो उन्हें मालूम हुआ कि सचमुच लड़के में जिद बढ़ने देनी नहीं चाहिए। यह बात सच थी कि दिनमणि ने स्कूल से लौटने पर पुत्र से खाने के लिए आध घण्टे तक अनुरोध किया था। उस सारे काल रामचरण मुंह फेर खाट पर पड़ रहा था। उकताकर अन्त में उत्तर में उसने तीन बार यही कहा था—"मैं नहीं खाऊंगा, नहीं खाऊंगा, नहीं खाऊगा।" यह उत्तर सुनकर दिनमणि खाट से उठ खड़ी हुई थी और उसने कुछ तथ्य की बातें बिना लाग-लपेट के रामचरण को वहीं की वहीं सुनादी थीं। रामचरण सब को पीता चला गया था।

यथार्थ स्थिति का परिचय पाकर रामरत्न दफ्तर के कपड़ों में ही अन्दर जाकर उसे डपटकर बोले—"रामचरण, क्या बात है जी?"

रामचरण ने पिता के स्वर पर चौंक कर ऐसे देखा, जैसे कहीं किसी खास बात के होने का उसे पता न हो, और वह जानना चाहता हो।

रामचरण की आंखों में फैली इस शिशुवत अबोधता पर पिता को और तैश हो आया। बोले—"खाना तुमने क्यों नहीं खाया जी? तुम्हारी मंशा क्या है? क्या चाहते हो? क्या घर में किसी को चैन लेने देना नहीं चाहते? सब तुम्हारी खुशामद करें, तब तुम खाओगे? आखिर तुम क्या चाहते हो? रोज-रोज ये तमाशा किसलिए?"

इसी तरह दो-तीन मिनट तक रामरत्न क्रोध में अपनी बात कहते

चले गये रामचरण खाट पर पड़ा आँख फाड़े उन्हें देख रहा था। जैसे वह कुछ न समझ रहा हो।

पिता ने वहीं से पत्नी को हुक्म देकर कहा—" लाना तो खाने को, देखें कैसे नहीं खाता है?"

दिनमणि खाना लेने गई और पिता ने पुत्र को कहा—"अब और तमाशा न कीजिए। हम समझते थे आप समझदार हैं। लेकिन दीखता है आप इसी तरह बाज आइएगा।"

रामचरण तत्क्षण न उठता दिखाई दिया तो कड़ककर बोले—"सुना नहीं आपने, या अब चपत लगे?"

रामचरण सुनकर एक साथ उठकर बैठ गया। उसके मुख पर भय नहीं, विस्मय था और वह पिता को आँख फाड़कर चकित बना-सा देख रहा था।

खाने को थाली आई और सामने उसकी खाट पर रखदी गई। पर उसकी ओर रामचरण ने हाथ बढ़ाने में शीघ्रता नहीं की!

पिता ने कहा—" अब खाते क्यों नहीं हो? देखते तो हो कि मैंने दफ्तर के कपड़े भी नहीं उतारे, क्या मैं तुम्हारे लिए कयामत तक यहीं खड़ा रहूंगा? चलो, शुरू करो।"

रामचरण फिर कुछ देर पिता को देखता रहा। अन्त में बोला—"मुझे भूख नहीं है।"

"कैसे भूख नहीं है?" पिता ने कहा—"सवेरे से कुछ नहीं खाया। जितनी भूख हो उतना खाओ।"

रामचरण ने उन्हीं फटी आँखों से पिता को देखते हुए कहा "भूख बिल्कुल नहीं है।"

पिता अब तक जब्त से काम ले रहे थे। लेकिन यह सुनकर उनका धैर्य छूट गया और उन्होंने एक चाँटा कनपटी पर दिया, कहा—"मक्कारी न करो, सीधी तरह खाने लग जाओ।"

इस पर रामचरण बिल्कुल नहीं रोया, न शिकायत का भाव उस पर

दिखाई दिया। वह शान्त भाव से थाली की तरफ हाथ बढ़ाकर टुकड़ा तोड़ने लगा। माता और पिता दोनों पास खड़े हुए देख रहे थे। रामचरण का मुँह सूखा था और ऐसा लगता था कि कौर उससे चबाया नहीं जा रहा है। इस बात पर उसके पिता को तीव्र क्रोध आया पर जाने किस विधि वह अपने क्रोध को रोके रह गये।

पाँच-सात कौर खाने के बाद रामचरण सहसा वहाँ से उठा, जल्दी-जल्दी चलकर बाहर आया, नाली पर पहुँचकर सब कै कर बैठा।

पिता यह सब देख रहे थे। मुँह साफ़ करके रामचरण लौटा तो पिता ने कठिनाई से अपने को वश में करके कहा, "अच्छा हुआ। कै तो अच्छी चीज़ है। अब स्वस्थ हो गये होगे, लो अब खाओ।"

रामचरण ने आँखों में पानी लाकर कहा, "मुझे भूख बिल्कुल नहीं है।"

"लेकिन तुमने सवेरे से खाया ही क्या है?" पिता ने कहा, "देखो रामचरण, यह सब आदत तुम्हारी नहीं चलेगी। ज़िद की हद होती है। या तो सीधी तरह खाना खालो, नहीं तो अब से हमसे तुम्हारा वास्ता नहीं—बोलो, खाते हो?"

रामचरण ने कहा, "मुझे भूख नहीं है।"

इस पर पिता ज़ोर से बोले, "लो जी, ये उठा ले जाओ थाली। अब इनसे ख़बरदार जो तुमने कुछ कहा। हम तो इनके लिए कुछ हैं ही नहीं। फिर कहना-सुनना क्या?"

थाली वहाँ से उठ गई और रामचरण बिना कुछ बोले हक्का-बक्का-सा पिता को देखता रह गया। पिता वहाँ से जाते-जाते पुत्र से बोले, "सुनिये, अब आपका राज है, जो चाहे कीजिए, जो चाहे न कीजिए। हमने आपको इसी रोज़ के लिए पाला था।" कहते-कहते उनकी वाणी गद्‌गद् हो आई। बोले, "ठीक है, जैसी आपकी मर्ज़ी। बुढ़ापे में हमें यही दिन दिखाइएगा।"

कहते हुए पिता वहाँ से चले गये। रामचरण की आँखों में आँसू

आ गये थे। पर पिता के जाने पर अपना सिर हाथों में लेकर वह वहीं खाट पर पड़ गया।

रात होती जाने लगी। पर पिता के मन का उद्वेग शान्त होने में न आता। उनको रोष था और अपने से खीज थी। वह विचारवान् व्यक्ति थे। सोचते थे लड़के में दोष हमसे ही आ सकता है। त्रुटि कहीं हममें ही होगी। लेकिन खयाल होता था—जिद अच्छी नहीं है। दिनमणि का कहना है कि लड़के को शुरू से काबू में नहीं रक्खा, इससे वह सिर चढ़ गया है। क्या यह ग़लती है? क्या डाँटना बुरा है? लाड़ से बच्चे बेशक सँभल नहीं सकते। लेकिन मैंने कब उसकी तरफ ध्यान दिया है। उसने कभी कुछ पूछा है तो मैंने टाल दिया है। न उसकी माँ ही समय दे पाती है। मैं समझता हूं कि लापरवाही है जिससे उसमें यह आदत आई है।

सोचते-सोचते उन्होंने पत्नी को बुलाया और पूछा और जिरह की। वह कहीं-न-कहीं से बच्चे से बाहर दोष को पा लेना चाहते थे। पर जिरह से कुछ फल नहीं निकला। उन्हें मालूम हुआ कि वह स्कूल से घर रोज़ से कुछ जल्दी ही आया था।

"पूछा नहीं, जल्दी क्यों आया है?"

"नहीं, मैं तो उससे कुछ पूछती नहीं, मुँह लटकाये आया और चादर लेकर खाट पर लेट गया। कुछ बोला न चाला।"

तब पिता ने ज़ोर से आवाज़ देकर पुकारा, "रामचरण!"

सुनकर रामचरण वहाँ आ गया।

पूछा, "तुम आज स्कूल पूरा करके नहीं आये?"

"नहीं।"

"पहले आगये?"

"हाँ।"

"क्यों?"

इसका उत्तर लड़के ने नहीं दिया। झुककर पास की कुर्सी का सहारा ले वह पिता को देखने लगा।

पिता ने कहा, "सहारा छोड़ो, सीधे खड़े हो। तुम बीमार नहीं हो। और सुनो, तुम सवेरे बिना खाये गये और किसी की बात नहीं सुनी। स्कूल बीच में छोड़कर चले आये। आये तो रूठकर पड़ रहे। और इतना कहा तो भी अब तक खाना नहीं खाया। बताओ, ऐसे कैसे चलेगा!"

लड़का चुप रहा।

पिता ज़ोर से बोले, "तुम्हारे मुँह में ज़ुबान नहीं है? कहते क्यों नहीं, ऐसे कैसे चलेगा? बताओ, इस ज़िद की तुम्हें क्या सज़ा दी जाय? देखते नहीं, घर भर में तुम्हारी वजह से क्लेश मचा रहता है।"

लड़का अब भी चुप ही था।

अत्यन्त संयमपूर्वक पिता ने कहा, "देखो, मेरी मानो तो अब भी खाना खा लो और सवेरे समय पर स्कूल चले जाना। आइन्दा ऐसा न हो। समझे? सुनते हो?"

लड़के की आँखें नीची थीं। कुछ मध्यम पड़कर पिता ने कहा, "भूख नहीं है तो जाने दो। लेकिन कल सवेरे नाश्ता करके ठीक वक्त से स्कूल चले जाना। देखो, इस उम्र में मेहनत से पढ़ लोगे और माँ-बाप का कहना मानोगे तो तुम्हीं सुख पाओगे। नहीं तो पीछे तुम्हें ही पछताना होगा। लो जाओ, कैसे अच्छे बेटे हो! बोलो, खाओगे?"

जाते-जाते रामचरण ने कहा, "मुझे भूख नहीं है।"

पिता का जी यह सुनकर फिर खराब हो आया। लेकिन उन्होंने विचार से काम लिया और अपने को संयत रक्खा।

अगले दिन देखा गया कि वह फिर समय पर नहीं उठ सका है। जैसे-तैसे उठाया गया है तो अनमने मन से काम कर रहा है। नाश्ते को कहा गया तो फिर नाश्ता नहीं ले रहा है।

पिता ने बहुत धैर्य से काम लिया। लेकिन कई बार अनुरोध करने पर भी जब रामचरण ने यही कहा कि भूख नहीं है तो उनका धीरज टूट गया। तब उन्होंने उसे अच्छी तरह पीटा और अपने सामने नाश्ता कराके

उसके स्कूल जाने पर उनमें आत्मालोचना और कर्तव्यभावना जागृत हुई। उन्होंने सोचा कि सायंकाल का समय वह मित्रमण्डली से बचाकर पुत्र को दिया करेंगे। उसे अच्छी-अच्छी बात बताएंगे और पढ़ाई की कमज़ोरी दूर करेंगे। पत्नी स कहकर रामचरण की अलमारी में से उन्होंने उसकी किताब और कापियाँ मँगाई। वह कुछ समय लगाकर रामचरण की पढ़ाई-लिखाई के बारे में परिचय पा लेना चाहते थे। पहले उन्होंने पुस्तकें देखीं, फिर कापियाँ देखीं। कापियों से अन्दाजा हुआ कि उसका कम्पोजीशन बहुत खराब है और भाषा का ज्ञान काफी नहीं है। किन्तु अन्तिम कापी जो सबसे साफ़ और बढ़िया थी, जिस पर किसी विषय का उल्लेख नहीं था; उसको खोला तो वह देखते-के-देखते रह गये। सुन्दर-सुन्दर अक्षरों में पुस्तकों में से चुने हुए नीति-वाक्य बालक ने उस कापी में अंकित किए हुए थे। जगह-जगह नीचे लाल स्याही से महत्वपूर्ण अंशो पर रेखा खिंची हुई थी। उसमें पहले ही सफ़े पर पिता ने पढ़ा :

"बड़ों की आज्ञा सदा सुननी चाहिए और कभी उनको उत्तर नहीं देना चाहिए।"

"दुःख सहना वीरों का काम है। अपने दुःख में सज्जन पुरुष किसी को कष्ट नहीं देते और उसे शान्ति से सहते हैं।"

"रोग मानने से बढ़ता है। रोग की सबसे अच्छी औषधि निराहार है।"

"घर ही उत्तम शिक्षालय है। सफल पुरुष पाठशाला में नहीं, जीवनशाला में अध्ययन करते हैं।"

"दृढ़ संकल्प में जीवन की सिद्धि है। जो बाधाओं से नहीं डिगता, वही कुछ करता है।"

पहले पृष्ठ के ये रेखांकित वाक्य पढ़ कर कापी को ज्यों-का-त्यों खोले पिता सामने शून्य में देखते-के-देखते रह गये।

दफ्तर में भी वह शान्ति न पा सके। शाम को लौटे तो मानो अपने

को क्षमा न कर पाते थे। घर आने पर पत्नी ने कहा-"अरे उसे देखो तो, तब से ही कै होरही है।"

रामरत्न ने आकर देखा। रामचरण शान्त भाव से लेटा हुआ था।

पत्नी ने कहा—"स्कूल से आया तो निढाल होरहा था। मुश्किल से दीवार पकड़ पकड़ करके जीना चढ़ के आया। और तब से दस बार कै होचुकी है। पूछती हूं तो कुछ कहता नहीं। देखो न क्या होगया है।"

पिता ने कहा—"रामचरण, क्या बात है?"

रामचरण ने कहा—"कुछ नहीं, मतली है।"

"कल भी थी?"

"हाँ।"

पिता को और समझना शेष न रहा। वह यह भी न पूछ सके कि ऐसी हालत में क्यों तुम दोनों रोज दो-दो मील पैदल गये और आये। बस, उनकी आँखें भर आयीं और वह डाक्टर लाने की बात सोचने लगे।

रामचरण ने उनकी ओर देखकर कहा—"कुछ नहीं है बाबूजी, न खाने से सब ठीक होजायगा।"
